भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

नये साहित्य स्रष्टा : तीन

सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन

अंकित होने दो

[कहानियाँ-रेखाचित्र, कविताएँ, अंकन]

अजितकुमार

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थाङ्क-१४६

ग्रन्थमाला सम्पादक-नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रकाशक
मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
संन्मति मुद्रणालय वाराणसी

प्रथम संस्करण १९६२
मूल्य चार रुपये

युग-मन्दिर
की
स्नेहमयी प्रतिमा
को

भूमिका

"नये साहित्य-स्रष्टा ग्रन्थमालामें क्रमशः ऐसे साहित्यकारोंकी रचना पाठकके सामने उपस्थित करना अभीष्ट है जिन्होंने न केवल नया या रोचक या अच्छा कुछ लिखा है, वरन् जिनका साहित्यिक कृतित्व उस संघर्षको भी प्रतिविम्बित करता है जो इस कालके साहित्यकारको अपनी निष्ठाकी रक्षा के लिए और अपने कला-मूल्योंकी प्रतिष्ठाके लिए करना पड़ता रहा।

"यह इस संघर्षकी बहुमुखता और जटिलताका एक चिह्न है कि समवर्ती कृतिकार प्रायः एकसे अधिक माध्यमोंमें रचना करते हैं। ऐसे लेखक कम हैं जो केवल कहानीकार या केवल कवि या उपन्यासकार या नाटककार या आलोचक हों। यह निरा 'हरफ़न्मौला' होनेका शौक़ नहीं है, न अनुशासनहीनता अथवा अराजकताका चिह्न, न साधनाकी कमी अथवा गुरु-शिष्य पद्धतिकी उपेक्षा। और यह भी एक अत्यन्त एकांगी सत्य होगा अगर कहा जाये कि आर्थिक कारणोंसे कृतिकारको सभी तरहकी चीज़ें लिखनी पड़ती हैं। यदि कवि लोग कहानियाँ और रेडियो-रूपक लिखने लगते और समीक्षक नाट्यकार (पाठ्य-क्रमोपयोगी) हो जाते, और बात वहीं तक रह जाती, तब तो आर्थिक प्रभावकी प्रधानता माननी पड़ती। पर ऐसे भी उदाहरण अनेक मिलेंगे जहाँ सफल कहानीकारोंने कविता लिखना आरम्भ किया है और आग्रहपूर्वक कविता लिखते ही चले गये हैं—यद्यपि कविताओंसे कुछ आय नहीं होती रही है जबकि कहानियोंकी माँग बराबर बनी रही है और उनके लिए पेशगी पारिश्रमिक पा लेना भी असम्भव नहीं रहा है।

"यह बहुमुखता इस ग्रन्थमालामें प्रतिबिम्बित हो, यह उसके उद्देश्यका स्वाभाविक परिणाम है। बिना उसके वह कैसे समकालीन संघर्षों और

प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधित्व कर सकती ? पर वह इसलिए भी ग्राह्य और अभिनन्दनीय है कि इस प्रकार वह प्रत्येक ग्रन्थको एक प्रीतिकर विविधता दे देती है। एक पुस्तक एक साथ ही एक साहित्यकारका पूरा प्रतिनिधित्व भी करे, और नाना रस-व्यञ्जनोंसे पाठककी रसनाको लुभाये और तृप्त भी करे, यह सम्भावना इस ग्रन्थमालाको न केवल अपने ढंगका एक-मात्र प्रयास बना देती है वरन् आजकी स्थितिमें एक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् प्रयोग भी। पाठक-वर्ग, आशा है, इसे इसी रूपमें ग्रहण करेगा।"

यह लम्बा उद्धरण नये साहित्य-स्रष्टा ग्रन्थमालाके पहले ग्रन्थकी भूमिकासे लिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस मालाका तीसरा ग्रन्थ है। मालाके उद्देश्योंके विषयमें नया कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक अङ्कित होने दोको उस ग्रन्थमालामें लेने, या इसके लेखकको नये साहित्य-स्रष्टा माननेके औचित्यका भी कोई प्रमाण यहाँ देना आवश्यक नहीं है। उसका प्रमाण भूमिकामें हो भी क्या सकता है ? वह तो पाठकोंको पुस्तकमें ही मिलेगा।

अङ्कित होने दो अजितकुमारकी पहली प्रकाशित पुस्तक नहीं है, इससे पहले उनका कविता-संग्रह अकेले कण्ठकी पुकार प्रकाशित हो चुका है। इस हद तक वह ग्रन्थमालाके पहले दोनों लेखकोंसे भिन्न हैं, लेकिन इससे उनके नयेपनमें कोई कमी नहीं आती क्योंकि वास्तवमें पुस्तकके प्रकाशनसे पहले लिखते हुए उन्हें अपेक्षामें अधिक समय नहीं बीता है।

किन्तु नयेपनके दावेका आधार अगर इतना ही होता तो उसे कच्चे-पनका पर्याय मान लेनेका डर बना रहता। अजितकुमारकी रचनाएँ कच्ची नहीं हैं, इतना ही नहीं, उनके स्वभावमें आधुनिक संवेदनाके वे तत्त्व हैं जिनके आधारपर उन्हें 'नया' कहना संगत जान पड़ता है। उदाहरणके लिए उनकी कहानियाँ लीजिए। 'नया' कहानी-लेखक प्लॉटको नगण्य तो नहीं मानता किन्तु कहानीके रूपको उसपर आधारित भी नहीं मानता। उसके निकट-संवेदनाकी वह विशेषता, जिसके कारण वह अपनी ग्रहण की

हुई चीज़को किसी एक सूत्रमें पिरो लेती है और उसे एक इकाईका गठन देती है, वही रूपकी सृष्टि करती है। संवेदन-सूत्रकी एकता ही रूप है; फिर वह चाहे एक घटना-क्रमके आधारपर पायी जाये, चाहे एक वातावरणकी सृष्टिके द्वारा, चाहे एक चरित्रके निरूपण-द्वारा। अर्थात् रूपका सम्बन्ध देश-काल और कर्मकी एकतासे उतना नहीं रहा है जितना कृतिकारकी रूप-कल्पी संवेदनासे'। अजितकुमारकी कहानियोंका कहानीपन इसीपर आश्रित है। नहीं तो पुराने ढंगके पाठक और आलोचकको उन्हें उस रूपमें ग्रहण करनेमें कठिनाई हो सकती है। आधुनिक स्वभावकी इस विशेषताको पहचाने बिना उन्हें अजितकुमारकी कहानियोंसे तृप्ति पानेमें जितनी कठिनाई होगी, उसे पहचान और स्वीकार कर लेनेपर उतना ही अतिरिक्त आनन्द मिलेगा। यों लेखकने झुकी गरदनवाला ऊँट नामक खण्डको विनय-पूर्वक 'कहानियाँ और रेखाचित्र' कहा है, और इस प्रकार उस आलोचकसे अपने बचावकी कुछ मोरचाबन्दी भी कर ली है जो इन कहानियोंमें-से अधिकतर को केवल रेखा-चित्र या 'स्केच' कहना चाहेगा। दो-एक तो निःसन्देह रेखा-चित्र ही हैं, बल्कि शायद उन्हें निबन्ध भी कहा जा सकता है। किन्तु उन दो-एकके लिए एक अलग खण्ड न रखा गया तो इससे पाठकको असमञ्जस तो न होना चाहिए।

जिन लघुतर रचनाओंको लेखकने अंकन कहा है उनपर आधुनिकता के एक प्रभावकी छाप है। लेखक ही नहीं आजका पाठक भी यह चाहता है कि गृहीताके भाव-यन्त्रने जो भी नयी छाप ग्रहण की हो, वह भरसक उसी जीवन-स्पन्दित रूपमें उसके सम्मुख प्रस्तुत कर दी जाये। फूलोंको गूँथकर और मालामें सँवारकर लाया जाये, इसमें उसे फूलकी नैसर्गिक शोभाका क्षय होता दीखता है। अनुभूति-कुसुमकी टटकी गन्ध वह पाना चाहता है, भले ही उसके साथ उसे कुछ बेतरतीबी भी सहनी पड़े। संस्मरणात्मक निबन्धों, डायरियों, लेखककी तात्कालिक टीपकी कॉपियोंमें इधर पाठककी

बढ़ती हुई रुचि इसी प्रवृत्तिका परिणाम है। जैसे चित्रकलाके क्षेत्रमें सम्पूर्ण चित्रके साथ-साथ दर्शक न केवल उस चित्रके लिए आँके गये अनेक प्रारूप देखना चाहता है, बल्कि कलाकारकी रचना-प्रक्रियाको समझनेके लिए उसके सभी प्रकारके स्केच देखना चाहता है, उसी प्रकार साहित्यका पाठक भी सम्पूर्ण रचनाके साथ-साथ उसके पूर्वरूप और अन्य रचनाओंके लिए ली गयी टीप भी देखना चाहता है। केवल कृतिको समझकर वह सन्तुष्ट नहीं है बल्कि लेखककी आत्माके भीतर भी झाँकना चाहता है जहाँ कृति रूप लेती है। दूसरे क्षेत्रोंकी शब्दावलीका प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि परोसी हुई थालीके आस्वादन-भरसे वह सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि रसोईमें बैठकर पाक-क्रियाका आनन्द लेना चाहता है—बल्कि उससे पहले सौदा-सुलुफ़की खरीदारीमें भी साथ जाना चाहता है।

अंकन खण्डकी रचनाएँ सब तीन भागोंमें बँटी होनेके कारण पाठक के लिए यह बहुविध रसास्वादन सुगम हो गया है। जिस परिवेशमें लेखक रहता है उसका चित्र भी पाठकके सम्मुख है, जो और जिस प्रकार अनुभव-संचय लेखक करता है वह भी, और अनुभूतिके घात-प्रतिघात जिस प्रकार उस नये उन्मेषके निमित्त बनते हैं जिसे रचना कहा जाये वह भी। इन अंकनोंको पढ़ लेनेपर पाठकको निश्चय ही यह बोध होगा कि एक व्यक्तिको उसने निकटसे पहचान लिया है, और वह पहचान उसे सुखद और प्रीतिकर भी लगेगी; वह जानेगा कि वह पहलेसे कुछ सम्पन्नतर हो गया है। और अगर ऐसा है तो क्या साहित्यका उद्देश्य पूरा नहीं हो गया है?

•

अजितकुमारसे मेरा परिचय बारह-एक बरस पहले हुआ। तब उन्होंने लेखक-जगत्में—या कि इसे और भी विशिष्ट करके कवि-जगत् कहना चाहिए—नया-नया प्रवेश किया था। विभिन्न अवसरोंपर उनकी जो कविताएँ पढ़ने-सुननेका अवसर मिला उनमें प्रतिभाके लक्षण स्पष्ट थे, और

अगले दो-एक वर्षोंमें मैंने मन-ही-मन आगामी कविता-'सप्तक'के सम्भाव्य कवियोंकी सूचीमें उनका भी नाम रख लिया—और शायद दूसरोंने भी ऐसा मान लिया कि आगमिष्यत् 'सप्तक'में अजितकुमार तो होंगे ही। फिर कैसे, ज्यों-ज्यों देर होती गयी त्यों-त्यों नामोंमें भी हेर-फेर होता गया, और अन्ततोगत्वा किस प्रकार अजितकुमारके बदले उनकी बहन कीर्ति चौधरी तीसरा सप्तकमें संकलित हुई, उसकी अलग कहानी है और कारण-परम्परा है। वे सब बातें यहाँ प्रासंगिक नहीं हैं, किन्तु एक बात यहाँ कहना उपयोगी होगा—उससे कवि अजितकुमारके विकासका रूप और उनके कवित्वके बारेमें मेरी धारणाका कुछ स्पष्टीकरण हो सकेगा।

नये कविकी प्रतिभा कूतनेके लिए दो कसौटियाँ मैं आवश्यक मानता आया हूँ। पहली यह कि नया कवि कितना लिख रहा है? क्योंकि प्रतिभा के पहले उन्मेषमें लेखनकी अच्छाई ही नहीं, मात्राकी प्रचुरता भी होती है—प्रचुरता ही उन्मेषका एक लक्षण है। दूसरी कसौटी यह कि नये लेखककी रचनाओंमें क्रमशः या थोड़े-थोड़े अन्तरालपर विकासके स्पष्ट लक्षण हैं या नहीं? प्रतिभा आरम्भसे ही परिपक्व हो, यह न सम्भव है न वाञ्छित। किन्तु उसमें बढ़ती हुई परिपक्वता हो, यह उसके जीवित होने का चिह्न है।

मैं स्वीकार करूँ कि इन दोनों बातोंको लेकर मेरे मनमें अजितकुमार के बारेमें थोड़ी द्विधा थी। उनका लिखा हुआ मुझे अच्छा लगता था, पर मैं यही जानता था कि वह थोड़ा ही लिखते हैं। और समय-समयपर जो पढ़ता था उसमें यह भी नहीं जान पड़ता था कि वह उतनी तेज़ीसे आगे बढ़ रहे हैं जितनीसे उनके कुछ समकालीन या समवयसी। हिन्दीमें प्रतिभाएँ कैसी तेज़ीसे विकसती हैं और कितनी जल्दी अकाल-परिपक्व होकर वहींकी-वहीं रह जाती हैं, यह मैं बार-बार देख चुका था। शायद इसीलिए और भी अधिक यह मानता था कि जब थोड़े ही दिनमें विकास रुक जाने-वाला है तब जितनी तेज़ीसे ही उतना ही अच्छा! इस सम्भावनापर तब

मानो विचार ही नहीं किया था कि बहुत तेज़ीसे पकना अपने-आपमें एक चिन्ताकी बात हो सकती है, और अगर विकासके लक्षण बने रहें तो इस बातसे नहीं घबराना चाहिए कि वह धीरे-धीरे हो रहा है।

अजितकुमारका विकास अपेक्षया धीरे हुआ। कुछ वर्षोंके अन्तरालके बाद जब एक साथ उनकी बहुत-सी रचनाएँ पढ़ीं तो एक प्रीतिकर आश्चर्य हुआ। और प्रस्तुत संकलनको पाठकके सम्मुख लाते हुए मैं अपनी भूल स्वीकार करना चाहता हूँ। उससे आगे यह भी कहना चाहता हूँ कि यह मेरे लिए आनन्दका विषय है कि मेरा अनुमान ग़लत साबित हुआ। मैं तो यह भी समझता हूँ कि अंकित होने दो भी अजितकुमारके विकासकी परा-सीमा नहीं है, और स्पष्ट ही वह और आगे बढ़ रहे हैं और बढ़ते रहेंगे।

अजितकुमारकी रचनाओंका मूल भाव 'ऐंग्री यंगमैन'का नहीं है। बल्कि उसमें एक भोलापन और निश्छलता है जिसे शिशुवत् भी कहा जा सकता है। वयस्कोंका बचपन बचकानापन कहलाता है, किन्तु अजितकुमार-की सहजतामें यही विशेषता है कि उसका वयस्कतासे विरोध नहीं है। बच्चेकी बात जब हमें विनोद-जनक जान पड़ती है तब सर्वदा ऐसा नहीं होता कि विनोद उत्पन्न करना बच्चेका उद्देश्य रहा हो। फिर भी हम हँसते हैं तो बच्चेपर नहीं हँसते। तब विनोद-जनक स्थिति उत्पन्न करनेका श्रेय उसीको मिलना चाहिए। वह हमें हँसाना चाहे बिना ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है जिससे कि हमारा उसके प्रति नहीं, परिस्थिति-मात्रके प्रति भाव बदल जाता है—वह जगत्से हमारा सम्बन्ध बदल देता है, हमारे राग-सम्बन्धोंको एक नयी लोकपर डाल देता है।

कुछ ऐसा ही भोलापन अजितकुमारकी रचनाओंमें मिलता है। वह हमें हँसाना नहीं चाहते, फिर भी कभी हम मुसकरा देते हैं; इस हँसीका लक्ष्य वह नहीं होते, वह केवल हमारी एक नयी राग-स्थितिका निमित्त होते हैं जिससे परिस्थिति या पात्रोंके प्रति हमारा भाव बदल जाता है। चाहें तो यों भी कह सकते हैं कि यह भोलापन एक साथ विनोद और

कारुण्यको जगाता है, और इसलिए हमारी हँसी हिंस्र न होकर वत्सल ही बनी रहती है।

यों अजितकुमारकी रचनाओंमें कैशोर्यकी अपेक्षा कैशोर्यके अन्तकी मोह-मुक्तिका भाव ही अधिक है। यह मोह-मुक्ति मोह-भंग नहीं है। उसमें कटुता कहीं नहीं है, वयस्कताके साथ-साथ कैशोर्य-सुलभ सपने स्वयं यथार्थके तापमें गलकर विलीन हो गये हैं। 'झुकी गरदनवाला ऊँट' कहानीका ऊँट, जिसका टूटा हुआ सिर स्वयं उसीके गलेमें लटकता बना रहता है, इस मोह-विलयनका एक प्रतीक है। जो बीत गया उसके बीत चुके होनेकी अपरिहार्यताका बोध उसमें है, किन्तु पराजयकी कुण्ठा उसमें बिलकुल नहीं है।

ऊँटकी टूटी हुई गरदन उसी ऊँटके गलेमें झुलाकर लेखक अपनी मोह-मुक्त अवस्थाका सम्बन्ध उससे पहलेकी किशोर मोहाविष्ट-अवस्थासे जोड़ लेता है; इस सम्बन्धको पहचानना ही उससे मुक्त हो जाना है—बचपनके खिलौनोंसे ही नहीं, खिलौनोंमें रमनेवाले अपने-आपसे भी ऊपर उठ आना है।

"अँधियारेमें भटकती हुई ज़िन्दगीको जैसे उजाला मिल गया""सब लोग दंग थे कि आज हम कैसे बदले-बदले-से हैं। हम बहुत ख़ुश थे।"

मुझे विश्वास है कि अंकित होने दोकी रचनाएँ पढ़नेवाला स्वयं अपने को "बाक़ी लोग"के उस वर्गमें सम्मिलित कर लेगा जो "किस क़दर खुश थे"। और इस विश्वासके आधारपर सम्पादकके नाते उत्तमपुरुष बहुवचन का आश्रय लेता हुआ मैं भी कह सकता हूँ कि "हम बहुत खुश थे"।

—सच्चिदानन्द वात्स्यायन

अनुक्रम

झुकी गरदनवाला ऊँट: कहानियाँ-रेखाचित्र

१. झुकी गरदनवाला ऊँट १९
२. खाली पन्ने २५
३. सुनिए तो ३२
४. आलस्य ३७
५. मास्टरजी ४९
६. दफ़्तरका बाबू ५७
७. खर्राटे ६६
८. कम नहीं है ७४
९. मर्मस्पर्शी कविताएं ७९
१०. पाठकोंको अदालतमें ८८
११. छोटा दूकानदार ९३
१२. रफ़्तार १०३
१३. इन्तज़ार १०५

नीमकी टहनी : कविताएँ

१. अपने पराये ११३
२. रचना-प्रक्रिया ११४
३. तुम्हारी खोजमें ११६
४. ख़त्म नहीं होता है कुछ भी ११७

५. अकस्मात् ११९
६. रहस्य १२१
७. स्मृतियाँ १२३
८. अभिलाषा १२४
९. अब भी नहीं १२६
१०. सूरज डूब चुका है १२७
११. ग्रीष्मागम १२८
१२. दिन १२९
१३. चैतका गीत १३१
१४. डूबनेवाला १३३
१५. लकीरके फ़क़ीर १३४
१६. हृदय १३५
१७. छूट गये १३६
१८. दो जगहें १३७
१९. खरी-खोटी १४०
२०. 'अ' और 'इ' संवाद १४१
२१. गंगाघाट (कानपुर) : सितम्बर १४४
२२. घरमें बरसात १४५
२३. ऋतु-नायिकाएँ १४६
२४. पत्नी-नायिका १४७
२५. कैसी-कितनी बातें १४९
२६. वीतरागका गीत १५०
२७. मैंने चीन्ह लिया १५४
२८. वह संसार १५५
२९. नियम १५६
३०. पूरापन १५७

३१. तरुवर १६०
३२. नीमकी टहनी १६१
३३. और ही कुछ कथाएँ १६३

अंकन

परिमण्डल १६७-२१३
अनुभूति २१४-२२७
रचना २२८-२६१

झुकी गरदनवाला ऊँट

[कहानियाँ और रेखाचित्र]

झुकी गरदनवाला ऊँट

हमारे घरमें न जाने कबसे एक छोटा-सा ऊँट था, पीतलका। टेढ़ी-मेढ़ी टाँगोंके सहारे वह एक नन्हे-से स्टैण्डपर खड़ा था। मुड़ी और झुकी हुई गरदन कुछ ऐसी थी कि बचपनमें हम कभी-कभी उसे बगुला समझ बैठते थे। कुछ दिनों वह बगुला रहता···और हमें बड़ा अचरज हुआ करता कि बगुला है तो इसका वह तालाब कहाँ है जिसके किनारे खड़े होकर यह मछलियोंका शिकार करता होगा !····थोड़े दिनों बाद, मानो जादूके ज़ोरसे, वह फिर ऊँट हो जाता और जब कभी हम सचमुचका ऊँट देखते तो अपने इस पीतलके ऊँटकी सुघरतापर फूले न समाते।

धीरे-धीरे वह उम्र आयी कि हम जान गये कि यह छोटा-सा खूब-सूरत जानवर सिर्फ़ ऊँट ही है—न सारस है और न बगुला। तबसे वह ऊँट हमारी निगाहमें सदाके लिए सिर्फ़ ऊँट होकर रह गया। धीरे-धीरे हमारी दिलचस्पी उसमें कम होती गयी। हम दूसरी अनेक बातोंको याद रखते-करते, उसे लगभग भूल गये।

सच है कि वह पीतलका छोटा-सा ऊँट बाहरके उस कमरेमें बहुत दिनों तक रखा रहा, जिसे हमने अब 'ड्राँइंग-रूम' कहना सीखा था। यह भी सच है कि शुरू-शुरूमें वह मेजपर रहता था कि कमरेकी शोभा बढ़ा सके। इतना ही नहीं, हम छोटे-से थे और एक नुमाइश देखने गये थे तो हमने काले गटापारचेका हाथी खरीदनेकी ज़िद सिर्फ़ इसीलिए की थी कि जब हमारे पास ऊँट है तो हाथी भी क्यों न हो! आज भी याद है कि हमने किसी दिन न जाने क्यों हाथीका काला गटापारचा फाड़ डाला था और उसके भीतर सफ़ेद खड़िया भरी पायी थी।

फिर पीतलके ऊँटकी चमक कम पड़ गयी और बाहरके कमरेकी

योजनामें न जाने क्या परिवर्तन आया कि ऊँटको एक कोनेमें रख दिया गया। कोनेसे उठकर किस दिन वह अँधेरी कोठरीमें रखी अंगड़-खंगड़की पुरानी सन्दूक़चीमें आ गया, यह इतिहास किसी खास महत्त्वका नहीं है। कितने दिन बेचारा ऊँट सन्दूक़चीमें पड़ा रहा, यह जाननेकी भी कोई विशेष उत्सुकता नहीं होती। ज़रूर कई साल बीते होंगे।

इस बीच ज़िन्दगी कभी तेज़ और कभी धीमी रफ़्तारसे चलती रही। हमारी उम्र बढ़ती गयी, हम बड़े होते गये। यहाँसे वहाँ, और वहाँसे कहीं और—पढ़ने जाते रहे। बहुत घूमे, बहुत लोगोंसे मिले। बहुत तरहकी बातें हमने सीखीं। हममें कितना परिवर्तन आ गया: यह तो अब सोचनेपर जान पड़ता है। उस समय, किन्तु, हम मानो हवाके पंखोंपर उड़ते थे। आगे बढ़ते थे और बढ़ते ही चले जाते थे।

एक बार हम अपने घरको लौटे। सब कुछ पहले जैसा ही था: पर कितना कुछ बदल चुका था! सबसे अधिक तो हमीं बदले थे। हमने देखा कि घर वही है पर कितना पुराना-जैसा दिखता है! लोग वही हैं पर कितने अजनबी-से जान पड़ते हैं! घरवाले कितनी तेज़ीसे बुड्ढे होते जा रहे हैं, ड्राँइंग-रूम कैसा फीका-फीका-सा है! दोस्त आयेंगे तो क्या सोचेंगे!

हमने निश्चय किया कि घरको साफ़-सुथरा बनायेंगे, बाहरके कमरेको सजा देंगे। कुरसियोंका बेंत उधड़ गया था: हमने बिननेवालेसे कहा कि उन्हें ठीक कर दे। कुरसियाँ न जाने कबसे प्रयोगमें आते-आते मैली पड़ गयी थीं: हमने छोटी बहनसे कहकर कपड़ेके खोल सिलवाये। कुरसियोंकी पीठपर खोल पहनाये गये। सभीको बड़े ख़ूबसूरत लगे। पर इतनेसे सन्तोष कैसे होता! पेपरवेट ज़रूर होने चाहिए। न जाने कब किस चीज़की तलाश में हमने पुरानी टीनकी सन्दूक़ची उलटी-पलटी। सन्दूक़चीमें पीतलका ऊँट पड़ा मिल गया। मैला हो गया था, फिर भी हमने उसे निकाला। ऊँट हमें कुछ जँचा नहीं, पर छोटे भाईने याद दिलायी, "दादा, ब्रासो ले आयें, घर में है?" हमने बिना किसी उत्साहके कह दिया, "लाओ, देखें सही।"

पॉलिशके दो हाथ लगते ही जान पड़ा कि ऊँटमें जान आ गयी । रंग निखर आया, चमक-सी आ गयी । हमने रगड़-रगड़कर उसे साफ़ किया तो ऊँटकी शक्ल ही बदल गयी । फीकापन मिट गया और ऐसा जान पड़ा कि नया न सही, कुछ बहुत पुराना भी नहीं है ।

चमकाये गये ऊँटको लाकर पहले मेज़के बीचोबीच और फिर एक कोनेमें हमने रखा । नज़दीक और दूरसे उसे देखा और फिर 'चलो कुछ भी न होनेसे तो ग़नीमत है !' सोचकर सन्तोषकी साँस भरी ।

इस बार हम कुछ दिन घर रहे तो कुछ-न-कुछ सँवारते ही रहे । जिस दिन घरसे जाने लगे तो मनमें भाव था कि देखो हमारे आनेसे घर कैसा व्यवस्थित हो गया !

ज़िन्दगीका चक्कर फिर चला । हमने पढ़ाई खत्म की । तरह-तरहके लोगोंसे मिले । तरह-तरहकी दुनियामें रहे । अब जादूका प्रभाव पहले जैसा न था । सपना, जो हमने देखा था, धीरे-धीरे टूट रहा था; ज़िन्दगी, जिसने हमें लुभाया था, अब डरा रही थी ! कौन जानता है, शायद इस बीच कभी हमने सोचा हो कि पीतलके ऊँटका भाग्य अच्छा रहा ! जैसा वह पहले था वैसा ही अब भी है । न बढ़ा न घटा । हम तो कितना बढ़ गये, कितना ही आगे बढ़ गये, और अब घट रहे हैं । पीछे....और पीछेको हटते ही जा रहे हैं । कौन जानता है, शायद हमने ऐसा कभी सोचा ही हो !

सोचा भी हो तो हमें याद नहीं आता । शायद हमने ऐसा कभी नहीं सोचा । बल्कि हम ज़िन्दगीसे चिपटे रहे और भाटेको ज्वार बना देनेकी कोशिश भरसक करते गये ।

हारकर एक दिन हम घर आये । घर फिरसे अव्यवस्थित हो चुका था । लोग पुराने हो चले थे । अब हमें खुद अपनेमें नवीनता नहीं जान पड़ती थी । कुरसियाँ टूटकर बनी थीं और फिर टूट चली थीं । हर चीज़पर धूल-सरीखी जमा थी और हमारी ज़िन्दगीपर भी बेकारीकी धूल थी । हमें किसी बातमें दिलचस्पी न थी, खुद अपनेमें भी नहीं ।

लेकिन हमें एक दिन नौकरी मिल गयी। अपने क़स्बेमें ही नौकरी मिल गयी। यह एक लहर-जैसी थी। पर हमको लगा कि ज़िन्दगीमें जो ज़ंग लग गयी है उसे यह लहर कहीं और अधिक बढ़ा न दे। हम यों ही बेकार थे—डर लगा कि नौकरी लगनेपर कहीं और भी बेकार न हो जायें।

प्रतिदिन पुराने होते जाते परिवारके लोगोंके बीचमें रहकर हमें यही सब बातें सोचनेके लिए शेष थीं। सुबह दससे शामके पाँच बजे तक दफ़्तरमें फ़ाइलोंको उलटते और शेष समयमें बीती हुई ज़िन्दगीको। हम बीती हुई ज़िन्दगीमें जीवित थे। भविष्यका हमारे लिए अस्तित्व न था, और वर्तमान—बस निर्जीव था। हम ज़िन्दगी नहीं, ज़िन्दगीकी लाश ढो रहे थे।

लेकिन बनाने-सँवारनेकी वृत्ति हममें अब भी शेष थी। क्या जाने यह कैसा संस्कार था। इसीलिए एक दिन जब हम दफ़्तरमें अफ़सरकी डाँट खाकर लौटे तो झुँझलाकर हमने दीवारपर टँगे पुराने कैलेण्डरको फाड़ फेंका। पाँच सालसे यही कैलेण्डर लटकाये हैं! शरम भी नहीं आती किसीको!

कैलेण्डर तो ज़मीनपर जा गिरा पर हम कुछ अचम्भेमें आ गये। कैलेण्डरके पीछे एक ताख था और उसपर धूलसे लदा-फँदा ऊँट खड़ा था!

जाने कैसी भावुकता हमपर छा गयी! मन-ही-मन हम सोचने लगे कि कितनी मंज़िल तय की है इस बेचारेने! कैसी थकान छायी है इसपर! कितना लम्बा समय और कैसा दूरका पथ पार करना पड़ा है इसे! और अब देखो: धूलसे लदा-फँदा खड़ा है: क्लान्त, शिथिल, मौन, निर्जीव-सरीखा! बेचारा ऊँट! पीतलका ऊँट?

ज़िन्दगीकी इस लम्बी भाग-दौड़में लगातार यह ऊँट हमारे साथ रहा है! जब हम बच्चे थे तो यह हमारे साथ खेलता था, जब हम बड़े हुए तो हमने इसे बार-बार पॉलिश लगाकर चमकाया था, और अब''''अब हमारे ही साथ यह खड़ा है धूलसे लदा-फँदा! जाने किस बोझसे इसकी गरदन

झुक गयी है।

उस ऊँटको हमने ताखपर-से उठाया। धूल झाड़ी। गर्द पोंछी ! उससे कहना चाहा कि हमने कभी भी उसे नहीं भुलाया। हम हरदम उसके साथ रहे हैं। हमें ऊँटपर बड़ी ममता जागी। हमें ऊँट बड़ा प्यारा दिखायी दिया। हमने ग़ौरसे देखा तो उसकी झुकी हुई गरदन और भी झुकी हुई जान पड़ी।

क्या जानें क़िस बोझसे बेचारे ऊँटकी गरदन इतनी झुक गयी है ? हममें एक विचित्र-सा उत्साह जागा। नहीं, नहीं। गरदन झुकनेकी क्या बात है, हम तो साथ हैं। साथ-साथ चलनेवाले हम सब सिर ऊपर उठाकर चलेंगे। कौन रोक सकता है, हमें किसीका भी भय नहीं है।

सोचा कि ऊँटकी गरदन कुछ ऊपर उठा दें। उठी हुई गरदनवाला ऊँट हमारा साथी है। हमने हल्का-सा ज़ोर लगाया। गरदन कुछ सीधी हुई। हमने कुछ ज़ोर और लगाया। ऊँटकी लम्बी गरदन बीचसे टूट गयी।

हम अचानक घबरा गये। हमने शीघ्रतासे इधर-उधर ताका। किसीने देख तो नहीं लिया कि हमने ऊँटको तोड़ डाला है ? नहीं, किसीने नहीं देखा।

मन विषादसे भर आया। देखो, हमने ऊँटकी गरदन ही तोड़ डाली। कैसे हैं हम कि अपने साथीके साथ ऐसा व्यवहार कर बैठे ! कैसे हैं हम कि बनानेकी कोशिशमें सभी कुछ बिगाड़ बैठे ! हम क्षोभके मारे अकुला उठे।

शिथिल चरणोंसे कुछ देर कमरेमें टहलते रहे। एक मुट्ठीमें ऊँटकी टूटी हुई झुकी गरदन और दूसरीमें टेढ़ी-मेढ़ी टाँगों, ऊँचे कूबड़ और उठी हुई आधी गरदनवाला हिस्सा।....हम मेज़के नज़दीक आये। ऊँटको हमने मेज़पर खड़ा कर दिया। हमको उस क्षण जान पड़ा कि यह तो वह ढोंगी बगुला है जो रोज़ तालाबकी मछलियोंको खा जाता था लेकिन एक दिन एक केंकड़ेने उसकी चालबाज़ी जान ली और बगुलेकी गरदन ही काट डाली। यह गरदन कटा हुआ बगुला ही तो यहाँ खड़ा है।

ऊँटकी उठी हुई ऊँची गरदन अजब-सी जान पड़ती थी। ग्रीवा उठाये हुए ऊँट किसे खोज रहा था ? गरदनका झुका और वक्राकार दूसरा

हिस्सा मेरी मुट्ठीमें था। धीरेसे हमने उसे उठी हुई ऊँची ग्रीवामें लटका दिया। यह अजब दृश्य था। उठे हुए बूचे गलेमें झुकी हुई टूटी गरदन झूल रही थी—धीरे, धीरे, धीरे ! ऐसा लगता था मानो गरदनमें सुरीली घण्टियोंको लटकाये हुए कोई ऊँट सुदूर रेगिस्तानोंको पार करता हुआ आया है और अभी न जाने किन-किन देशों तक जायेगा। सारे रेगिस्तानी पथको उसने सुरीली घण्टीके माधुर्यसे गुंजित कर दिया और अब आनेवाले रास्तोंपर उसकी घण्टियाँ सफल यात्राके जय-घोषसे भरकर और भी सुरीली हो जायेंगी। धूलसे लथ-पथ, क्लान्त और उदास ऊँटकी गरदन टूट गयी। अविराम गतिसे आगे बढ़ते रहनेवाले ऊँटकी गरदनमें एक और जयमाला पड़ी जो आनेवाले हर सुनसानको अपनी सुगन्धिसे भर देगी।.... उठी हुई ग्रीवाकी खोज सार्थक हो गयी।

टेढ़े-मेढ़े, किन्तु अडिग पैरोंपर खड़ा ऊँट अपने गलेमें खुद अपनी ही टूटी गरदन डाले था। झुकी हुई गरदन झूल रही थी धीरे धीरे धीरे। आगे बढ़ते हुए कारवाँकी घण्टियोंका संगीत मेरे प्राणोंमें भरता जा रहा था। मैं ऊँटको अपलक देखता ही जाता था।

घरके भीतर शाम झुक आयी थी। सब लोग चुप और अपने कामोंमें व्यस्त थे। हमने जाकर रोशनी जलायी। पूछा कि चाय बन गयी या नहीं ? आज सब लोग एक साथ बैठकर चाय पियेंगे।....हमने सबको एक कहानी सुनायी कि कैसे एक बच्चा था जिसने अपने प्यारे साथीको खो दिया था। बड़े होनेपर एक दिन अचानक ही वह अपने बिछुड़े हुए साथीको पा गया। अँधियारेमें भटकती हुई ज़िन्दगीको जैसे उजाला मिल गया।....

सब लोग दंग थे कि आज हम कैसे बदले-बदले-से हैं। हम बहुत खुश थे। बाक़ी लोग भी किस क़दर खुश थे।

ख़ाली पन्ने

मैंने नयी-नयी नौकरी की थी। वे मेरे साथ काम करती थीं और बैठती तो मुझसे दूर थीं लेकिन शुरूसे ही मैं उन्हें अपने नज़दीक समझने लगा था। उनका नाम शान्ति था—शान्ति देवी। लेकिन सभी लोग उन्हें 'शान्तीजी', 'शान्तीजी' कहते थे। यह बात मुझे तनिक भी अच्छी नहीं लगती थी कि 'शान्ति'को 'शान्ती' कहकर पुकारा जाये। इसलिए मैंने उनसे एक बार कहा, "लोगोंको आप मना क्यों नहीं करतीं? देखिए न, सब जने आपका नाम बिगाड़ते हैं।"

उन्होंने जवाब दिया, "होगा जी, क्या फ़र्क़ पड़ता है!"

मैंने उनसे कहा, "फ़र्क़ क्यों नहीं पड़ता! नाम ठीकसे लेना चाहिए। नाम बिगाड़नेका हक़ किसीको नहीं है। मसलन: मेरा नाम अजित है और मुझे कोई 'अजीत' कहे तो क्या मुझे अच्छा लगेगा?"

उन्होंने जवाब दिया, "आप लेखक हैं, आपकी बात नहीं जानती, पर मुझे अपने लिए यह बुरा नहीं लगता!"

वह बात यहीं ख़त्म हो गयी। लेकिन बातें अगर यों ही आसानीसे ख़त्म हो जाने लगें तो कितना अच्छा रहे! होता यह है कि बातमें बात आ पड़ती है और फिर उलझ जाती है।

एक दिन शान्ति देवी अपने जूड़ेमें नन्हा-सा सफ़ेद फूल लगाकर आयीं और मैंने उन्हें देखा तो मुझे नया-नया-सा जान पड़ा और चूँकि मैं उनको अपने नज़दीक समझता था या शायद अपनेको उनके नज़दीक समझता था: इसलिए मैं उनके पास गया और बोला, "आज आप बहुत अच्छी लग रही हैं।"

शान्तिजीने मुझे धन्यवाद दिया तो मैंने उन्हें बताया कि उनके जूड़ेमें

लगकर नन्हें फूलकी शोभा और भी बढ़ गयी है। इसपर शान्तिजीने मुझे एक बार फिर धन्यवाद दिया और चुप हो रहीं।

बात खत्म हो गयी और मैं आके अपनी कुरसीपर बैठ गया। पर मैं सोचता रहा कि ये शान्तिजी कैसी हैं कि एक बात उन्हें बुरी लगनी चाहिए थी सो उन्हें बुरी नहीं लगी, और एक बात उन्हें अच्छी लगनी चाहिए थी सो उन्हें अच्छी नहीं लगी! कैसी हैं ये शान्तिजी?····

ख़ैर! इस तरहके विचार बनते-मिटते रहे और वक़्त गुज़रता गया। कोई ऐसी खास बात नहीं हुई। बस यह कि मैं उनको अपने कुछ और नज़दीक समझने लगा।

बहुत अच्छी थीं शान्तिजी। सफ़ेद कपड़े पहनती थीं और बिलकुल सादे ढंगसे रहती थीं। किसी तरहका फ़ैशन नहीं करती थीं और न चूड़ी, न बुन्दे, न अँगूठी : कोई गहना भी नहीं पहनती थीं। क़द उनका छोटा था मगर ऊँची एड़ीका सैण्ड्ल उनके पैरोंमें कभी नहीं दिखायी दिया। दुबली-पतली थीं और मैंने उनको कुछ खाते-पीते भी कभी नहीं देखा। बस, सुबह दफ़्तर आतीं और शामको चली जातीं। ऐसी ही थीं वे। और इससे भिन्न हो भी क्या सकती थीं!

एक दिन नये ज़मानेकी लड़कियोंपर बात चल निकली। मैं ही ज़्यादा देर बोलता रहा। यह कह रहा था कि लड़कियोंका सजना-सँवरना मुझे खूब अच्छा लगता है। वे बस सुन रही थीं। मालूम नहीं क्यों, मैं पूछ बैठा, "रंग-बिरंगे कपड़े आप नहीं पहनतीं?"

उन्होंने जवाब दिया, "हाँ, मुझे पसन्द नहीं आते। भड़कीले कपड़े देखकर मेरा सिर चकराता है।"

"सिर तो चकरायेगा ही। कुछ खायें-पियेंगी नहीं और यों ही कमज़ोर बनी रहेंगी तो सिर तो सिर है, आँखोंके आगे सारी दुनिया चकराती हुई मालूम होगी।" मैंने कहा।

इसमें कोई हँसीकी बात नहीं थी लेकिन शान्तिजी हँसने लगीं तो मुझे

भी हँसना पड़ा।

फिर कुछ दूसरी बातें चल निकलीं। और न जाने कैसे प्रसंग आया कि मैं पूछ बैठा, "शान्तिजी, आप शादी क्यों नहीं करतीं ?"

वे बोलीं, "अरे, मुझसे कौन ब्याह करेगा !"

मैं समझ गया कि वे मेरी बातको हँसकर टाल रही हैं, इसलिए मैंने कहा, "लीजिए, मैं तो चाहता हूँ कि आप शादी कर लें और आपको मज़ाक सूझ रहा है।"

उन्होंने कहा, "मुझे ब्याह-श्याह अच्छा नहीं लगता।"

इसके बाद, सामान्यतः शादी-ब्याहका यह प्रसंग समाप्त हो जाना चाहिए था, पर यह विषय ही कुछ ऐसा है कि एक बार शुरू हो जाये तो जल्दी समाप्त नहीं होता। इसलिए मैंने पूछा, "आख़िर ऐसी नाराज़ी क्या है ? कोई वजह भी हो ?"

वे बोलीं, "कुछ नहीं, यों ही।" और चुप हो रहीं।

उनका चुप हो जाना कुछ बहुत अस्वाभाविक न था क्योंकि वे बोलती ही कम थीं और मुझे ताज्जुब हुआ करता था कि इनका समय किस तरह कटता होगा। कभी-कभी मैं उनके चेहरेको ध्यानसे देखता था तो मुझे उस दुबले-पतले मुखमें छिपा कोई विचार नहीं मिलता था। वे सोचती हुई भी नहीं जान पड़ती थीं और अपनेमें डूबी हुई भी नहीं। वे कहाँ हैं, यह जान पाना मुश्किल हो जाता था। कभी मैं देखता कि बड़ा-सा काग़ज़ है, उसपर कुछ लिखती हैं फिर काटती हैं; फिर कुछ लिखती हैं और काटती हैं। कभी देखता कि काग़ज़ बिखरे हुए हैं, क़लम खुला पड़ा है और वे गुमसुम बैठी हैं। कभी यह कि दाहिनी हथेलीको मेज़पर फैला लिया है और उसे एकटक निहारे जा रही हैं। उनकी इसी तरहकी कुछ विशेष मुद्राएँ थीं जिनको देख-देखकर ख़ुद मुझे उलझन होती थी क्योंकि कुछ पता चल नहीं पाता था कि ऐसे मौक़ोंपर उनके मनके भीतर क्या हुआ करता है। एक दिन मैंने कहा, "यह आप दाहिनी हथेली क्यों

देख रही हैं ? लड़कियोंका भाग्य तो उनकी बायीं हथेलीमें लिखा होता है।"

उन्होंने झटसे अपनी दाहिनी हथेली सामनेसे हटा ली और बोलीं, "ओ हो, मैं तो भूल गयी थी।"

मैंने थोड़े दुःखके साथ कहा, "शान्तिजी, आप ऐसे क्यों रहती हैं ?"

"यों ही", उन्होंने बिना कुछ समझे-बूझे उत्तर दे दिया था। पर मेरे मनमें यह जिज्ञासा बनी ही रही कि वे अन्यमनस्क हैं या दत्तचित्त हैं या कुछ और हैं तो क्या हैं ? इन मुद्राओंसे परे वे कहीं अन्यत्र हैं या इन्हींके साथ अभिन्न रूपमें जुड़ी हुई हैं ?

कोई ऐसी खास बात भी नहीं थी उनमें; बस मेरी एक जिद थी कि मैं लेखक हूँ और एक चरित्र मेरे सामने है तो उसे समझना चाहिए मुझको। मगर मैं कबतक इन्तजार करता। उनके साथ काम करते-करते कई महीने बीत गये और मेरी नोटबुकमें उनके नामवाले पन्नोंपर एक भी बात नहीं लिखी जा सकी। इसकी वजह बिलकुल स्पष्ट थी कि शान्तिजीके चरित्र में ऐसी कोई बात थी ही नहीं जो लिखी जा सकती। सीधा-सादा सपाट व्यक्तित्व था उनका। शान्त और सरल स्वभाव था उनका। इसलिए यह ठीक ही हुआ कि उनसे कुछ पानेकी मेरी आशा धीरे-धीरे मिट गयी। दूसरी-दूसरी चीजोंने मेरा ध्यान आकर्षित कर लिया। बहुत-सा काम आ पड़ा और कुछ व्यक्तिगत और कुछ पारिवारिक परिस्थितियाँ ऐसी हो गयीं कि मैं अपनेमें ही उलझा रहने लगा।

अभी उस दिनकी बात है कि मैं अलमारीसे कुछ काग़ज़ निकालने गया था कि शान्तिजीकी मेज़पर निगाह जा पड़ी। उन्होंने एक चिटपर लिख रखा था—शान्ती, कान्ती, वेदान्ती। पढ़कर मुझे हँसी आ गयी तो उन्होंने पूछा, "क्यों हँस रहे हैं, अजीत साहब ?" मैंने उनके हाथसे पेन्सिल लेकर चिटपर लिख दिया—शान्ती कुछ भी नहीं जान्ती। वे हँसने लगीं और बोलीं. "अजीत कहनेपर आज आप नाराज़ नहीं हुए ?"

"क्या फ़र्क़ पड़ता है जी", मैंने जवाब दिया, "शेक्सपियरने कहा है कि नाममें क्या धरा है !" और यह कहकर मैं शान्तिजीके पाससे हटने वाला ही था कि उन्होंने कहा,

"क्या बात है, आजकल आप बहुत उदास रहते हैं ?"

"नहीं तो," मैंने जवाब दिया।

"कुछ तो ज़रूर है। अब आप किसीसे बोलते भी नहीं, बिलकुल चुप रहते हैं।"

"किससे बोलूँ भाई ! क्या दीवालोंसे बातें करूँ ?" फिर एक क्षण रुककर मैंने कहा, "मेरे साथ बातें करनेकी फ़ुरसत किसे है ?"

उन्होंने कहा, "आपको ही फ़ुरसत नहीं है, और सबको है।"

"आपको भी ?" मैंने पूछा।

"मैं तो हर वक़्त ख़ाली बैठी रहती हूँ। बस सोचा करती हूँ।"

"क्या सोचती हैं ?" मैंने पूछा।

"कुछ नहीं, इधर-उधरकी बातें।" उन्होंने जवाब दिया।

"सुनिए, अपने बचपनकी याद है आपको ?" मैंने पूछा।

वे बोलीं, "हाँ, क्यों नहीं", और फिर बताने लगीं, "एक बड़ा-सा घर था हमारा। फुलवारी थी और एक फ़िटन भी थी। मेरे पिताजी बड़े अच्छे थे। हम लोगोंसे बहुत प्यार करते थे। सब भाई-बहनोंके लिए रोज़ शामको कुछ-न-कुछ ज़रूर लाते थे। मैं हमेशा अपना हिस्सा लेकर छोटे बाबूके यहाँ चली जाती थी।"

"छोटे बाबू कौन ?" मैंने जानना चाहा।

"हमारे पड़ोसी थे। उनका लड़का मेरा बड़ा दोस्त था। मुझे जो भी मिलता था, उसका आधा हिस्सा मैं उसे ज़रूर देती थी। हम दोनों घण्टों फुलवारीमें खेला करते थे...."

"क्या नाम था उसका ?"

"उसका ?....उसका नाम था....राजू।"

"फिर क्या हुआ शान्तिजी ?" मैंने पूछा।

"फिर मेरे पिताजी साधू हो गये और पता नहीं कहाँ चले गये। हम लोगोंपर कितनी मुसीबतें आयीं ! माँको ही सब कुछ करना था; और वे कहाँतक करतीं ? घर बेचना पड़ा और फ़िटन भी बेच दी। बहुत दिनों तक तो सबके मनमें यह आशा रही कि पिताजी लौट आयेंगे।....मुझे खूब याद है कि हम और राजू अकसर सोचा करते थे कि किसी दिन पिताजी बहुत-सी चीज़ें लेकर आयेंगे और हमारे दिन फिर अच्छे हो जायेंगे। हम फिर फ़िटनमें बैठकर घूमने निकलेंगे।....लेकिन गये हुए लोग क्या कभी वापस आते हैं ?....तभी राजूके पिताकी बदली हो गयी और वे लोग भी चले गये...."

"उसके बाद क्या हुआ शान्तिजी ?" मैंने बहुत दिलचस्पी लेते हुए पूछा।

शान्तिजीने मेरी ओर ग़ौरसे देखा और कोई एक भाव उनके होठोंसे होता हुआ उनकी आँखों तक फैल गया। फिर वे मुसकरायीं और अपनी मेज़के काग़ज़ सँभालती हुई बोलीं, "उसके बाद ?....उसके बाद : कहानी खत्म हो गयी।"

मैं कुछ समझ नहीं पाया। और यह बात मैंने उनसे कही तो वे बोलीं, "भई, एक किताबमें यह कहानी पढ़ी थी। मुझे बहुत पसन्द आयी तो मैंने सोचा कि आप लेखक हैं, आपको सुना दूँ।" यह कहती हुई शान्तिजी कुरसीसे उठीं और चल दीं। मैं सोचता ही रह गया कि अभी-अभी जिसे मैंने देखा था, वह सहज गतिसे बहनेवाली निर्मल धारा थी, या केवल मृगतृष्णा ? जो क्षण बीत गया वह उनके व्यक्तित्वके अनावरणका क्षण था या मात्र आत्म-वंचनाका ?....

मेरा सोचना-समझना सब इसी जगह ठप हो रहा था। इन्हीं दिनों, शान्तिजीको एक दूसरी नौकरी मिल गयी और जिस दिन वे हमारे दफ़्तरसे जाने लगीं उस दिन मैंने उनसे कहा, "यह तो सच है कि गये हुए लोग

वापस कम ही लौटते हैं, लेकिन वे स्मृतियोंमें बार-बार लौट आते हैं।"

शान्तिजीने कहा, "स्मृतियोंमें लौटते होंगे, कहानियोंमें तो लौटे नहीं!" और इसके बाद वे मानो अपने-आपसे बोलीं, "सौभाग्यवश, मुझे इन दोनोंमें-से किसीपर विश्वास नहीं।"

....ऐसी थीं वे शान्तिजी जो चली गयीं और जिनके नामवाले पन्ने मेरी नोट-बुकमें ख़ाली पड़े थे।

आज, उन ख़ाली पन्नोंको भरे देता हूँ कि स्मृतियोंपर भी विश्वास किया जा सके और कहानियोंपर भी। यह बात दूसरी है कि शान्तिजी कैसी थीं और कैसी नहीं—इसकी जानकारी मुझे हो गयी थी—ऐसा मैं आज भी बहुत विश्वासके साथ नहीं कह सकता!

सुनिए तो

आज पण्डितजी एक घटना सुनाने लगे, "कल मैं बाज़ार जा रहा था। रास्तेमें मोहन मिला तो मैंने पूछा, 'कहो जी मोहन, क्या हाल-चाल है ?'

"उसने जवाब दिया, 'सब कुशल है ठाकुर साहब, आप कैसे हैं ?'

"मैंने कहा, 'ईश्वरकी दयासे ठीक ही हूँ, लेकिन मेरा नाम ठाकुर साहब तो नहीं, मुझे लोग पण्डित कुन्दनलाल कहते हैं।'

"उसने उत्तर दिया, 'तो क्या हुआ, मैं भी मोहन नहीं हूँ! मेरा नाम रामेश्वरदयाल है।'

"और हम दोनोंने एक-दूसरेको घूरकर देखा और अपनी-अपनी राह पकड़ी।"

पण्डितजी तो यह घटना सुनाकर चले गये लेकिन मैं उलझनमें पड़ गया। मुझे अचानक ही संसारकी सबसे छोटी कहानी याद आ गयी जिसमें रेलकी यात्रा करते हुए एक आदमीसे उसकी बग़लमें बैठे दूसरे आदमीने पूछा था, "क्यों साहब, क्या आप भूतोंपर विश्वास करते हैं ?" और जब पहले यात्रीने उत्तर दिया, "नहीं" तो वह सहयात्री "क्या अब भी नहीं ?" कहकर अदृश्य हो गया।

मैंने सोचा कि पण्डित कुन्दनलालकी आपबीती और संसारकी इस सबसे छोटी कहानीमें कुछ बहुत अन्तर नहीं है। लेकिन पता नहीं क्या बात है कि पण्डितजीकी घटना केवल एक साधारण-सा चुटकुला बनकर रह गयी जब कि दूसरी कहानीने संसार-भरमें आदर पाया। इसके कई कारण समझमें भी आये, मसलन : कथानक, कौतूहल, प्रारम्भ और अन्त, सम्भाषण और वातावरण आदि; लेकिन इनमें-से किसी भी कसौटीपर

पण्डितजीकी कहानी हलकी उतरती न जान पड़ी। और फिर पता नहीं क्यों मेरे मस्तिष्कमें यह विचार धीरे-धीरे जड़ पकड़ता गया कि हो-न-हो पण्डित कुन्दनलालकी कहानीमें भी महत्ताके बीज अवश्य छिपे हैं।

धीरे-धीरे इस कहानीका नशा मेरे ऊपर छाता गया और आवेशके उन क्षणोंमें मैंने महत्ताके उन बीजोंको अंकुरित करनेका भार अपने ऊपर ले लिया। क्षण-भरके लिए मैंने अनुभव किया जैसे विश्वके किसी श्रेष्ठ कहानीकारकी आत्मा मुझमें आ समायी है: शायद चेखॅवकी, शायद मोपासाकी, शायद····लेकिन जब मेरे भगीरथ प्रयत्नोंके उपरान्त भी पण्डितजी-द्वारा बतायी गयी दुर्घटना संसारकी सबसे छोटी या सबसे बड़ी कहानी बनती नज़र नहीं आयी तो मैंने कोई दूसरा रास्ता अपनानेकी बात सोची।

बिजलीकी गतिसे मेरे मनमें एक विचार आया कि क्यों न इस कथाको पौराणिक गाथाओंका रूप दिया जाये! निश्चय ही इससे कथाकी रोचकता बढ़ जायेगी। ऐतिहासिकताका भी कुछ-न-कुछ पुट रहेगा ही क्योंकि पुराणोंमें कल्पना तथा इतिहासका अनुपम मिश्रण है। बस फिर क्या था; मैंने लिखना प्रारम्भ किया—

"कालान्तरमें नारद मुनि पर्यटन करते हुए जम्बूद्वीपे भरतखण्डे कोशलप्रदेशे जा पहुँचे। राजमार्गपर अचानक महाराज शार्दूलके कुमार त्रिविक्रमबलीसे उनका साक्षात्कार हुआ। नारद मुनि जन्मके वार्तालाप-प्रेमी ठहरे: वीणाके तारोंको छेड़ते हुए उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की, 'कहो वत्स त्रिविक्रम, कुशलपूर्वक तो हो?'

"त्रिविक्रमबलीने साष्टांग दण्डवत् करते हुए उत्तर दिया, 'सेवकका अभिवादन स्वीकार करें, देव विश्वामित्र!'····

विचारोंकी शृंखला यहाँतक आकर अचानक टूट गयी। पौराणिक गाथाओंके मेरे ज्ञानने हाथ जोड़कर प्रार्थना की, "श्रीमान्, ऐसी गहन परीक्षा मत लीजिए। नारद तो खैर सर्वदेश-सर्वकालव्यापी हो सकते हैं

परन्तु शार्दूल, त्रिविक्रमवली और विश्वामित्र आदिको तो काँटोंमें न घसीटिए। कहाँ प्राचीन युगके वैदिक ऋषि विश्वामित्र और कहाँ बाण-भट्टकी कादम्बरीके महाराज शार्दूल।"

इतिहास-पुराणोंका ज्ञान साथ छोड़ता दिखायी दिया तो मेरे अन्तरका अध्यात्मदर्शी जाग उठा। मैंने कथाको नये सूत्रसे प्रारम्भ किया—

"शून्यमें निरन्तर गूँजनेवाले अनहदनादसे अपरिचित जीव अज्ञानके अन्धकारमें भटक रहा था। इतनेमें स्वयं ज्ञानस्वरूप ब्रह्मने निराकारका स्वरूप त्यागकर सगुण आकार ग्रहण किया और गुरु-गम्भीर स्वरमें दिव्य वाणी मुखरित की, 'ओ तृप्तिकी खोजमें व्याकुल पिण्ड! इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्नाके संकेतोंने क्या अबतक तुझे परम सत्यका साक्षात्कार नहीं कराया?'

"जीव बोला, 'हे प्रखर प्रकाशके ज्ञानातीत पुञ्ज! मैं तृप्तिकी खोजमें व्याकुल पिण्ड तो नहीं हूँ। मैं चेतना हूँ, मैं आत्मा हूँ, मेरा ध्येय ....।"

मेरे विचार अस्त-व्यस्त हो गये। पण्डित कुन्दनलाल और रामेश्वर-दयालके आधारपर बनाया गया 'ब्रह्म और जीव' का आध्यात्मिक रूपक अधूरा हो रह गया। उसे आगे कैसे बढ़ाऊँ, यह समस्या मेरे सुलझाये न सुलझी। आत्माका 'ध्येय' आलू खाना या उपन्यास पढ़ना तो नहीं ही हो सकता! और तब मैंने सोचा कि इतिहास और अध्यात्मके अगम-अपरिचित क्षेत्रोंमें जानेकी चेष्टा करनेसे कहीं अच्छा यह है कि अपनी बुद्धिपर विश्वास करके इस कहानीको तर्क-द्वारा महान् सिद्ध करूँ। इस कसौटीपर खरी उतरनेके बाद यह रचना निश्चय ही विश्व-विख्यात हो जायेगी। मैंने फिर एक योजना बनायी और इस प्रकार कहानी लिखी—

"सिद्धान्त-शास्त्री, वेद-चूड़ामणि, द्विज-वर्ण दिवाकर, श्रीमन्त वर्द्धित-यश:काय ऋग्वेदके पुरुषसूक्तके मन्त्र जपते चले जा रहे थे। नेत्र जो उठे तो सम्मुख त्रिपिटकाचार्य दिगम्बर बौद्ध-भिक्षु नागानन्द दिखायी दे गये। यश:कायने कुशल-क्षेमकी जिज्ञासासे प्रश्न किया, 'भन्ते! यह स्वप्न है या

सत्य ? यदि सत्य है तो स्वप्न नहीं और यदि स्वप्न है तो सत्य नहीं ! यदि तुम नागानन्द हो तो वर्द्धितयशःकाय नहीं और यदि वर्द्धितयशःकाय हो तो नागानन्द नहीं।'

"नागानन्दने शून्य निर्निमेष दृष्टिसे क्षितिजकी ओर ताकते हुए उत्तर दिया, 'हे वन्धु मुद्गलायन ! मैं स्वप्न भी हूँ, सत्य भी हूँ। मैं स्वप्न भी नहीं हूँ, सत्य भी नहीं हूँ। हूँ भी, नहीं भी, यथा आकाश है भी और नहीं भी है।'

यहाँतक पहुँचनेके वाद मेरा साहस छूट गया। इस भारी-भरकम पेचीदी शव्दावलीमें मुझे पण्डित कुन्दनलालके दिलचस्प मज़ाक़का दम घुटता-सा जान पड़ा। कुछ ऐसा अनुभव हुआ जैसे दर्शन और तर्कका शुष्क क्षेत्र ऐसे प्रसंगोंके लिए अनुपयुक्त-सा है। मैंने सोचा कि आज वह युग नहीं रहा जव हम प्रत्येक घटनाका गम्भीर तथा तात्त्विक विश्लेषण करनेका प्रयत्न करें : हर बातमें भूगोल, रसायन और विद्युत्शास्त्रको ठूँसना चाहें। आज तो सीधी-सादी, हलकी-फुलकी वातोंका ज़माना है। कथावस्तु आधुनिक हो, रोमांसका पुट हो, पृष्ठभूमि नयी हो, वातावरण परिचित-सा लगे—तभी रचना श्रेष्ठ और महान् वन सकती है !....

इस विचारका मनमें आना था कि मैंने एक नया ही प्लॉट वना लिया और उसे काव्यको नवीन मुक्त शैलीमें व्यक्त करना चाहा—

"कॉलेजके गेटपर
हो गयी भेंट एक युवक और युवती की।
भेंट क्या ! उसे दुर्घटना ही कहिए।
युवक महोदयने इधर-उधर ताक कर
गलेको साफ़ किया,
(नाम था इनका रामाधीन सिंह यादव)
और फिर बोले, 'ज़रा सुषमा जी, सुनिए
होऊँगा बहुत अधिक आभारी आपका

'पेन' मुझे अपना दो मिनिटके लिए दीजिए।'
सुषमा जो पहले तो हँसीं-मुसकरायीं,
कहने लगीं फिर यकायक गम्भीर होकर
'श्रीमान् माधवजी ! आप कुछ भूलते हैं,
अच्छा हो सीमामें अपनी यदि रहिए।
सुषमा नहीं हूँ,
कामधेनु नाम मेरा है,
जज साहेब पिता हैं :
आप हवालात जायेंगे ?''

इस कहानीको पढ़नेवाले सहृदय मित्रो ! मेरे अनथक प्रयत्नोंके बाद भी आप यह अनुभव करेंगे ही कि बात कुछ बनी नहीं। पण्डित कुन्दन-लालकी कहानीमें छिपे हुए महत्ताके बीज अंकुरित नहीं हो सके हैं। कैसे कह दूँ कि यह उन बीजोंका दोष है ! मुझे तो अपनी कलाहीनता स्पष्ट दिखायी दे रही है।

अस्तु, हे पाठकवृन्द ! हे मननशील श्रोतागण ! मैं तो अपना कर्त्तव्य निभा चुका। एड़ी-चोटीका पसीना मैंने एक कर दिया। 'कर्म'में ही मेरा अधिकार था, 'फल'में कदापि नहीं। अपनी असमर्थता मैं नतशिर होकर स्वीकार करता हूँ। अब आप प्रयत्न कीजिए। कौन जानता है कि कब, किसकी लेखनीमें देवी सरस्वतीका चमत्कार समा जाये। अस्तु, मेरे हास्यास्पद, निष्फल प्रयत्नोंका यह वर्णन पढ़नेवाले हे सरस्वतीके कृपापात्र सुहृद्‌जन ! उपर्युक्त घटनाको अपने शब्दोंमें बाँधकर एक अमर तथा महान् कहानीका रूप दे डालिए। आनेवाली सदियाँ आपका गुण गायेंगी। कथा-साहित्यमें आपका नाम इसी एक कृतिके बलपर स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जायेगा। जिस कार्यको मैं न कर सका उसे आप सम्पादित करेंगे। संसार की लघुतम एवं महत्तम कहानीके लेखक रूपमें शताब्दियों तक आप पूजे जायेंगे। विमुख न होइए। मेरी बात सुनिए तो····

आलस्य

स्वभावसे मैं तनिक आलसी हूँ। इसीलिए पत्र-पत्रिकाओंमें रचनाएँ भेजनेका काम मेरे लिए सदासे बड़ा कष्टसाध्य रहा है। हाँ, यह ज़रूर था कि तमाम हिन्दी-लेखकोंकी भाँति मेरी भी प्रतिभा सबसे पहले काव्य-क्षेत्रमें ही मुखरित हुई थी, और सुन्दर लिपिमें कविताओंकी प्रति बनाकर प्रकाशनार्थ भेजना पहले कुछ इतना अखरता नहीं था। लेकिन वह प्रारम्भिक उत्साह था, अधिक समय चला नहीं। और जब मैं कहानी, नाटक, निबन्ध सभी कुछ लिखने लगा तो हाशिया छोड़कर सुपाठ्य पाण्डुलिपि बनानेकी ओरसे मेरा मन बिलकुल ही हट गया। मैं सोचता था कि जितनी देरमें एक कहानी साफ़ करूँगा, उतनेमें तो एक नयी कहानी लिखी जा सकती है। नतीजा यह होता कि कटी-पिटी, गन्दी कहानियाँ फ़ाइलमें पड़ी रहतीं: न उनकी साफ़-सुथरी प्रति बन पाती और न नयी चीज़ लिखनेकी इच्छा होती, क्योंकि यह बोझ मनपर बना रहता कि अभी पहलेवाली रचनाएँ ही ढेरों रखी हैं, कहीं छपनेको नहीं भेजी गयीं....और कहाँतक लिखूँ!

आलस्यके कारण काममें बाधा ज़रूर पड़ती है, लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि उसके कारण कभी कोई काम सध भी जाये। मेरे उस आलस्यकी उपयोगिता इस प्रकार साबित हुई कि मैं किसी तरह पैसे जुटाकर एक टाइपराइटर ले आया। यह नहीं कहूँगा कि इस ख़रीदका सारा श्रेय मेरे आलस्यको ही था; बहुत कुछ श्रेय उन सम्पादकोंको भी मिलना चहिए जिन्होंने मेरे अथक परिश्रम-द्वारा सुस्पष्ट लिखावटमें लिखी गयी पाण्डुलिपियोंको बिलकुल ही हज़्म कर डाला था, और डकार तक न ली थी। यों थोड़ा-सा श्रेय मेरी उस लिखावटको भी था जिसे मैं

कितना ही सुन्दर बनानेका यत्न करता, वह ऐसी न हो पाती थी कि पत्रिकाओंके (अल्पशिक्षित !) सम्पादक उसे पढ़ पाते और इसलिए बग़ैर पढ़े वापस कर देते थे।

बहरहाल, टाइपराइटर मैं ले आया। नया टाइपराइटर अपने-आपमें एक खूबसूरत चीज़ होती है। उससे मेरे कमरेकी शोभा बढ़ गयी। अब जो भी मुझसे मिलने आता, उसके साथ कुछ देर टाइपराइटरकी बात ज़रूर चलती, और मैं उसके ख़रीदनेका पूरा इतिहास बताता। मेरा तर्क यह था कि मैं किंचित् व्यस्त आदमी हूँ, यदा-कदा सम्पादकगण रचनाएँ माँगते ही रहते हैं। टाइपराइटरकी खूबी यह है कि अनेक प्रतियाँ बन जाती हैं; अच्छाई यह कि सफ़ाई रहती है, सम्पादकों, कॅम्पोज़ीटरों और प्रूफ़रीडरोंको सुविधा होती है। इन तीनों प्राणियोंको मैं जान-बूझकर एक ही श्रेणीमें रखता था, और ऐसा करते समय मुझे बड़ा आत्म-सन्तोष मिलता था; लेकिन सच्ची बात यह थी कि मेरे मनमें न जाने क्यों एक विचार बैठ गया था कि सम्पादक लोग टाइप की हुई रचनाको कुछ अधिक गम्भीरता-पूर्वक देखते हैं और हाथसे लिखी रचनाके लेखकको नौसिखुआ समझकर यों ही टाल देते हैं। मेरा खयाल था कि फूलस्कैप आकारके पृष्ठोंपर सुन्दर टाइप किये हुए अक्षरोंमें मेरी रचना पढ़कर सम्पादकोंपर ज़रूर रोब पड़ेगा और वे अवश्य ही मुझे पूरा-पक्का और जमा हुआ लेखक मानने लगेंगे। इस धारणाके मूलमें शायद यह बात भी थी कि मेरी लिखावट खराब होनेके कारण, मेरे परीक्षकोंने, न सिर्फ़ अच्छी लिखावटवाले बल्कि और भी बहुतसे, नम्बर काटकर सदा ही मुझे बड़ा दुःख दिया था। वह दुःख-भरी कहानी मैं अपने लेखक-जीवनमें क़तई नहीं दुहरवाना चाहता था।

पर शीघ्र ही मुझे पता चल गया कि विधाताने मुझे इस दुनियामें लेखक-कलाकार बनाकर भेजा है, और मैं व्यर्थ ही दूसरे-दूसरे कामोंमें लगकर अपनी प्रतिभा नष्ट कर रहा हूँ। नयी-नयी मशीनपर, एक

सम्पादकके नाम जो पहला पत्र मैंने टाइप करना चाहा उसका पहला ही शब्द गड़बड़ हो गया : 'श्री'की जगह '। ी' टाइप हो गया। मैं थोड़ा पुराने खयालोंका आदमी हूँ, इसलिए 'श्री' के स्थानपर 'विराम चिह्न' लग जाता मुझे कुछ ऐसा मालूम हुआ मानो इस दिशामें मेरी तमाम महत्त्वाकांक्षाओंपर ही विराम लग गया हो।

फिर भी मैंने भरसक यत्न नहीं छोड़ा, क्योंकि 'ट्राइ ऐण्ड ट्राइ अगेन' वाली कविता मुझे बचपनसे ही पूरी कण्ठस्थ थी। नतीजा यह हुआ कि मेरे द्वारा टाइप किये हुए काग़ज़-पत्रोंमें 'र'के स्थानपर 'रु', 'ख'के स्थानपर 'ख़ं', '१'की जगह 'ज्ञ' और '—'की जगह 'थ'की भरमार होने लगी। पूरे एक घण्टेमें एक पन्ना टाइप कर सकनेके बाद जब मैं उसपर सन्तोष-भरी निगाह डालता तो उसमें 'पि्इ माय', 'भरमी'और 'ऋधिकारी' जैसे शब्द दिखायी देते। कभी-कभी तो मैं अचरजमें पड़ जाता कि मैंने मित्रके नाम पत्र टाइप किया है या शत्रुदेशमें भेजनेके लिए 'कोड'का सन्देश।

इसीलिए, वह स्थिति शीघ्र ही आ पहुँची, जब 'टिप-टिप' 'टिप-टिप' गानेवाले टाइपराइटरों और बिजलीकी गतिसे चलनेवाली टाइपिस्टोंकी उँगलियों, और 'सर-सर' 'सर-सर' टाइप होते हुए काग़ज़ोंसे प्रेरित होकर अपने कमरेमें, अपनी मशीनपर स्वयं अपने हाथों-द्वारा यह चमत्कार दिखा सकनेकी सारी आशा मैंने त्याग दी। इस प्रकार, अपने प्रति मेरा पुराना विश्वास पुनः लौट आया कि 'मैं मशीनोंके लिए नहीं बना।' अब मैंने उसमें इतना जोड़ दिया—'और न मशीनें मेरे लिए।'

एक तरहसे टाइपराइटर अब मेरे लिए बेकार हो गया था, क्योंकि उसके प्रयोगसे मुझे सुविधा होनेकी बजाय असुविधा होती थी। यह सच है कि मैंने उसे सीखनेके लिए पर्याप्त परिश्रम नहीं किया, लेकिन मैं ऐसे कोई भी काम नहीं करता जिनमें सैद्धान्तिक प्रश्न आ पड़ते हों। मेरी आपत्ति, इस प्रसंगमें, यह थी कि जब मैं अपने जीवनका प्रमुखतम कार्य—

अर्थात् लेखन—बग़ैर परिश्रम किये, नितान्त सहज भावसे करता हूँ, तो फिर टाइप सीखने या टाइप करनेमें ही परिश्रम क्यों करूँ ? और यदि परिश्रम करना ही हो तो निरर्थक प्रतीत होनेवाली रचनाओंमें अर्थ खोजने का उद्यम करना श्रेयस्कर है, ऊपरी तौरसे उपयोगी जान पड़नेवाले इस लेखन-हन्ता विशुद्ध यान्त्रिक कार्यको करना नहीं।

ये तर्क अटपटे भले ही हों; पर मूलभूत बात पक्की है कि जिस काम को कोई व्यक्ति दक्षतापूर्वक नहीं कर पाये, उसे करते रहनेके हठसे कोई लाभ नहीं होता। 'ह'को 'ह्य' टाइप करनेवाली योग्यता लेकर मैं जब भी अपनी मशीनपर कोई काम करने बैठता, यही लगता था कि समय और शक्तिका अपव्यय कर रहा हूँ। यों इन दोनों चीज़ोंके लिए मेरे मनमें कभी भी कोई विशेष मोह नहीं रहा था, लेकिन सिद्धान्तवादी होनेके नाते मैं इनका दुरुपयोग नहीं होने दे सकता था। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि टाइप करते समय मुझे अपने ऊपर, मशीनपर और सारीकी-सारी दुनियापर बहुत ग़ुस्सा आता था।

एक रोज़ अपने एक मित्रके सामने मैं इस विषयके दार्शनिक और सैद्धान्तिक पक्षपर बातचीत कर रहा था। मेरा मत था कि हर आदमी को उसी कार्यमें प्रवृत्त होना चाहिए जिसके लिए वह सर्वाधिक उपयुक्त हो। मेरे मित्रका ख़याल था कि यह एक सर्वसम्मत बात है। मैं कहता था कि सर्वसम्मत हो या न हो, मेरा अपना मत ज़रूर है और मेरे मतसे हर व्यक्तिको अपने ही मतके अनुसार आचरण करना चाहिए। मित्र महोदय इस बातपर झुंझला रहे थे कि आप कौन हैं जो 'मेरा मत' 'मेरा मत'से नीचे बात ही नहीं करते। इसका उत्तर मेरे पास यह था कि मेरे मतसे तो प्रत्येक प्राणीको अपना मत रखनेका अधिकार है, और यह क़तई ज़रूरी नहीं है कि हर आदमी अरस्तू-अफ़लातून ही हो जाये। फिर मैंने हँसकर कहा, "मेरा मत है कि बालिग़ मताधिकारसे आपको भी सह-मत होना चाहिए।"

बहरहाल, इसी सिलसिलेमें मैंने उन्हें बताया कि मेरे पास काम बहुत है। तुम्हारी निगाहमें कोई टाइपिस्ट हो तो बताओ। मित्र महोदय एकको जानते थे। बोले कि उससे बात करेंगे।

तीन-चार दिन बाद श्री इन्द्रसेन पाण्डेय मेरे पास आये। दुबले-पतले थे, हाथमें झोला लिये हुए। कुरसीपर सिकुड़कर बैठ गये। एक हथेलीसे दूसरी हथेलीको मसलते हुए, मेरे मित्रका नाम लेकर बोले, "आपके पास भेजा है।" फिर बहुत संकोचके साथ, मुँह-ही-मुँहमें कहा, "टाइपका कुछ काम...."

पाण्डेयजी न बताते तो भी मैं जान गया था कि वे टाइपिस्ट हैं। आखिर कहानी-लेखक ठहरा!

जीवनमें पहली बार मुझे यह ज्ञात हुआ कि सम्पादकों-द्वारा तिरस्कृत और मित्रों-द्वारा उपेक्षित होनेपर भी 'लेखक' एक व्यक्तिपर अपनी रचनाका रोब जमा सकता है और एक व्यक्तिको अपनी रचना ज़बर-दस्ती पढ़वा सकता है। यह व्यक्ति है—टाइपिस्ट। अस्तु, पाण्डेयजीको मैंने अपना एक नाटक दिया और मार्जिन, स्पेस आदिके आवश्यक निर्देश बताये। उनके और मेरे संकोचके बावजूद रुपये-पैसेकी बात भी तय हो गयी। फिर पाण्डेयजी अपने झोलेमें नाटक डालकर उठे और अत्यन्त विनम्र नमस्कार करते हुए बोले, "देखिए, और किसीसे यह रेट न बताइएगा। बात यह है कि...."

"आप निश्चिन्त रहिए, मैं बिलकुल समझ गया," कहकर मैंने उनसे विदा ली।

धीरे-धीरे पाण्डेयजी मेरा काफ़ी काम करने लगे। यों उनका टाइप-राइटर पुराना था और 'ए' तथा 'उ'की मात्राएँ अकसर अदृश्य हो जाती थीं; शब्दोंके हिज्जे वे कभी-कभी अपने मनसे सही—यानी ग़लत—कर देते थे; और सबसे बड़ी मुसीबत तो यह थी कि वे शब्दोंके नीचे बिन्दी कभी नहीं लगाते थे : इसलिए मेरा बहुत-सा समय 'गम'को 'ग़म' और

'गलत'को 'ग़लत' करते बीतता था। लेकिन पाण्डेयजी आदमी भले थे। उनकी मशीनका रिबन कभी नहीं बदला जाता था इसलिए पहली कॉपी धुंधली बनती थी, और कार्बन वे पुराने लगाते थे इसलिए दूसरी-तीसरी-चौथी प्रतियाँ भी इत्तफ़ाक़से ही पढ़ी जाती थीं लेकिन उनके छोटे भाईका विवाह हुआ तो वे मिठाई मेरे घर ख़ुद ही दे गये और यह बात मेरे घरवालोंको बहुत पसन्द आयी। यों पाण्डेयजी मेरे कई बार टोकनेके बावजूद 'स'को 'श' बना देते थे और काम पूरा करनेमें कुछ देरी भी लगाते थे, लेकिन कुल मिलाकर मैं उनसे सन्तुष्ट था।

कई महीने पहलेकी बात है। मैंने एक कहानी तैयार की थी, फिर पाण्डेयजीका इन्तज़ार किया कि आयें तो उन्हें टाइप करनेको दूँ। पर इतवार, सोमवार, मंगल····कई दिन बीत गये और वे नहीं आये, तो मैंने सोचा कि बुधवारको इसे ख़ुद ही उनके घर दे आऊँगा। पर बुधवारकी सुबह, भवानीशंकर नामक एक नवयुवक मेरे पास आया और बोला, "जी, मैं टाइपिस्ट हूँ। किसीने बताया है कि आप मुझे कुछ काम दे सकते हैं, इसलिए सेवामें उपस्थित हुआ हूँ।"

पहले तो मैंने समझा कि उसे पाण्डेयजीने ही भेजा है, पर मालूम हुआ कि वह उन्हें जानता भी नहीं। वह किसी अन्य व्यक्तिसे खबर पाकर मेरे पास आया है।

वह बाईस-तेईस सालका, गोरा-सा ठिगना युवक था। दो-चार वाक्य बोलकर ही उसने बता दिया था कि वह सुशील और विनम्र है। उसके आनेपर मुझे थोड़ी ख़ुशी हुई। मैंने सोचा कि लेखक-रूपमें मेरी ख्याति न केवल साहित्य-जगत्में फैल रही है बल्कि अन्यान्य लोग भी मुझे जानने लगे हैं। अब देखो, यह लड़का मुझे लेखक जानकर ही मेरे पास आया है। मेरे पड़ोसी पं० बनवारीलाल तिवारीके पास तो नहीं गया और न लाला रामभरोसेके पास ही जायेगा, क्योंकि इसे न तो कपड़ेकी दूकान करनी है और न गुड़का धन्धा।

अपने इस लेखकोचित सम्मानका पूरा ध्यान रखते हुए मैंने भवानीशंकरके साथ बड़ी शालीनतापूर्वक बातचीत की। चाय-पानीके लिए पूछा। चूँकि वह कुछ माँगनेके लिए आया था, इसलिए मन-ही-मन उसे अपनेसे छोटा मानकर भी मैंने ऊपरसे बड़ा भद्र व्यवहार किया। फिर, मैंने संक्षेपमें स्थिति स्पष्ट कर दी, "देखिए, मेरा काम तो एक अन्य सज्जन करते हैं। और वे भले आदमी हैं, उनके कामसे अभी तक मुझे कोई शिकायत नहीं हुई है। ऐसी दशामें यह अच्छा नहीं जान पड़ता कि मैं उनका काम आपको दे दूँ। पर हाँ, जो कुछ वे नहीं कर सकेंगे, वह मैं आपको ज़रूर दूँगा।"

भवानीशंकर अत्यन्त व्यस्त होकर बोल पड़ा, "जी, मैं जानता नहीं था कि आपका काम कोई अन्य सज्जन करते हैं।...."

"नहीं भाई, इसकी कोई बात नहीं है," मैंने कहा, "वैसे तो मेरे पास अपना टाइपराइटर है और कुछ-न-कुछ टाइप कर ही लेता हूँ, लेकिन उसमें बड़ा समय लगता है। जितना आप दस मिनिटमें टाइप कर लेंगे उतनेमें मुझे सवा घण्टा लगेगा।"

भवानीशंकरने मेरी बातका अनुमोदन किया। मैं कह चला, "असलमें मुझे रेडियो, पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशकोंके लिए बहुत-सा छुटपुट काम करना पड़ता है। एक उपन्यास भी पूरा करनेमें लगा हुआ हूँ। अकसर पाण्डेयजीके पास काम अधिक हो जाता है, और अगर मैं उसे खुद करनेकी सोचूँ तो फिर मेरा हर्ज होता है।"

"जी हाँ, सो तो है ही," भवानीशंकरने कहा।

अपने सम्बन्धमें कुछ बातें और बतानेके बाद मैं भद्रतापूर्वक बोला, "जी, मैं आपको काम अवश्य दूँगा।"

"तो फिर मैं चलूँ," भवानीशंकर उठ खड़ा हुआ।

तभी मुझे पिछले दिनों लिखी कहानीकी याद आ गयी और मैंने, "एक मिनिट रुकिए," कहकर अपने काग़ज़ोंमें-से वह कहानी ढूँढी। "आज

आप इसे ले जाइए। फिर कुछ और काम निकालूँगा आपके लिए।"

भवानीशंकर कहानी लेकर चला गया और उसी शामको टाइप करके वापस भी ले आया। यह मुझे बहुत अच्छा लगा। मैंने देखा कि क्लिप लगी हुई चारों प्रतियाँ बिलकुल सुस्पष्ट हैं, कहीं काटपीट नहीं है, शुद्ध टाइप हुआ है और सब मिलाकर कहानी अच्छी दिखने लगी। मन-ही-मन प्रसन्न होते हुए मैंने पूछा, "आपको मेरी लिखावट पढ़नेमें कोई दिक्क़त तो नहीं हुई?"

वह बोला, "जी नहीं। मुझे तो कोई कठिनाई नहीं जान पड़ी।"

पाण्डेयजी मेरी घसीट लिखावटकी बहुत शिकायत किया करते थे। जब भी मैं टाइपकी कोई ग़लती दिखाता, वे कह देते थे, "आप लिखते ही ऐसा हैं। बस, मुझको चुप रह जाना पड़ता था।"

चुप तो ख़ैर मैं इस बार भी हो गया, लेकिन यह अपनी ख़ुशीको छिपानेके लिए एक प्रकारकी शालीनता-भरी चुप्पी थी, जब कि पाण्डेयजी के प्रसंगमें मेरे चुप रह जानेका अर्थ होता था—झुँझलाहटपर वश पानेका प्रयत्न।

पैसे लेने-देनेके विषयमें मैं सदासे बड़ा संकोची रहा हूँ, इसलिए बहुत झिझकते हुए मैंने पूछा, "सुनिए, इस कहानीके पैसे आपको अभी दे दूँ, या हिसाबमें लिख लूँ?"

उसने कहा, "जी, हिसाबमें लिख लीजिए।"

हिसाबकी कॉपीमें पाण्डेयजी वाले पन्नेके बादका पृष्ठ खोलकर मैंने पूछा, "पूरा नाम क्या लिखूँ आपका?"

"जी, भवानीशंकर ही काफ़ी है," उसने जवाब दिया।

मैंने लिखा—श्री भवानीशंकर जी। नीचे लिखा—दस पृष्ठ (टाइप किये)। फिर पूछा, "दस पन्ने ही तो थे न आपके?"

"जी हां," भवानीशंकरने संक्षिप्त उत्तर दिया।

कॉपी बन्द करके एक ओर रखते हुए मैंने सोचा कि मैं भी एक

व्यक्तिसे काम लेकर उसे 'पेमेण्ट' दे सकनेकी स्थितिमें हूँ—यह कितने गौरवकी बात है ! मेरे कारण एक नवयुवकने आज ढाई रुपये कमाये हैं, इस बातने मुझे सन्तोष दिया। तृप्ति-भरी मुसकानके साथ मैंने भवानीशंकर से कहा, "आज बुधवार है। आप परसों, शुक्रवारको, आ सकें तो मैं आपके लिए कुछ और काम तैयार कर रखूँगा।"

भवानीशंकरके जानेके बाद मैं इधर-उधरके कामोंमें फँस गया और शुक्रवार तक कुछ भी न लिख सका। मैंने सोचा कि उससे क्षमा माँग लूँगा और फिर किसी दिन आनेके लिए कहूँगा। पर, शुक्रवारको वह आया नहीं, और शनिवारको वह आया नहीं, और शनिवारकी शामको स्थानीय डाक-द्वारा भेजी गयी उसकी यह चिट्ठी मुझे मिली :

आदरणीय,

सादर नमस्कार। आप सोच रहे होंगे कि मैं आज (शुक्रवारको) क्यों नहीं आया? लेकिन मैंने तो उसी दिन न आनेका निश्चय कर लिया था, जिस दिन आपको कहानी टाइप करके दे आया था। कारण कोई विशेष नहीं। बस इतना ही कि मुझे ऐसा लगा जैसे मैं किसीके मुँहका कौर छीन रहा हूँ। मेरी आत्माने मेरा साथ नहीं दिया इस काममें, इसलिए मैं विवश हूँ। हाँ, यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपकी रचना पढ़नेको मिली। खासी अच्छी थी। उसमें सन्देश था—विश्वके लिए।

बस, मेरी आपसे एक ही प्रार्थना है कि आप इसका पारिश्रमिक उन्हीं महानुभावको देनेका कष्ट करें जिनसे आप काम कराते हैं। आशा है आप मेरा अनुरोध स्वीकार कर मुझे आत्मशान्ति प्रदान करेंगे।

आपका विनम्र
भवानीशंकर

यह पत्र मेरे लिए एक प्रकारका आध्यात्मिक अनुभव था। इसने मेरा परिष्कार किया। जीवनके विविध घात-प्रतिघातोंके कारण मनुष्यके जिस सात्त्विक स्वरूपको मैं भूलने-सा लगा था उसमें मेरी आस्था इसने फिरसे

जगा दी। अपने तमाम ओछेपनपर मुझे घृणा हो आयी और अपने समस्त स्वार्थ मुझे निस्सार और खोखले प्रतीत हुए। मैंने अनुभव किया कि दुनियामें अब भी अच्छाई और अच्छे लोगोंकी कमी नहीं है।

यह पत्र मेरे लिए एक प्रकारकी नैतिक शिक्षा थी। पर इसने मुझे एक नैतिक संकटमें भी डाल दिया! मैं इस दुविधामें पड़ गया कि उस कहानीको टाइप करानेके जो ढाई रुपये मेरे ज़िम्मे आते हैं, उनका क्या करूँ! अगर मैं भवानीशंकरसे आग्रह करूँ कि वह अपनी मेहनतका पैसा ले ले, तो यह उसकी भावनाका अपमान करना होगा। ऐसा पत्र पानेके बाद भी, उससे ढाई रुपये लेनेके लिए कहना मुझे बहुत छोटी बात जान पड़ी। दूसरी ओर, पाण्डेयजीको ये रुपये देनेमें कोई तुक मुझे नहीं दिखायी दी। इसका सवाल ही नहीं उठता था। बल्कि पाण्डेयजीसे इस तरहका प्रस्ताव करनेका साहस भी मुझमें नहीं था। मुझे पूरा यक़ीन था कि वे इस रक़मको स्वीकार नहीं कर सकेंगे।

एकमात्र उपाय यह था कि उन रुपयोंको मैं अपने ही पास रख लूँ। ऐसा करना कदाचित् सबसे अधिक अनैतिक भी था। यह परायी रक़मको सरासर हज़्म कर जाना था। पर मैंने ऐसा ही करनेका निश्चय किया। मैंने सोचा कि ये ढाई रुपये मेरे पास एक पवित्र स्मृतिके रूपमें रहेंगे। रहेंगे, तो एक मानवीय कथाका निरन्तर स्मरण दिलायेंगे। और यदि मैंने इनको किसी-न-किसी प्रकार निबटा दिया तो शायद इस घटनाकी संवेदना हलकी पड़ जायेगी।

यह निश्चय करनेके साथ-ही-साथ मैंने एक निश्चय और भी किया कि इस विषयपर एक कहानी लिखूँगा और उस कहानीसे जो आय होगी वह भवानीशंकरको दूँगा। उससे कहूँगा कि जिस कहानीकी मूल प्रेरणा आपने दी है उससे प्राप्त धन भी आपको ही मिलना है। कहूँगा कि वैसा पत्र लिखकर आपने मुझे जिस नैतिक संकटमें डाल दिया है उससे मैं तभी उबर पाऊँगा जब आप ये रुपये स्वीकार कर लेंगे। मैंने यह भी निश्चय

किया कि उस कहानीको मैं खुद टाइप करूँगा और जब वह छप जायेगी तो उसकी एक प्रति और पारिश्रमिकके रुपये भवानीशंकरके पास भेज दूँगा।

इन विचारों और निश्चयोंने मुझे बहुत सुख दिया। शनिवारकी वह शाम अपूर्व सम्भावनाओंकी शाम थी। सारे संशय और विकार मिट गये थे और तमाम उद्विग्नताएँ शान्त थीं। आस्थाका जीवन सचमुच ही बहुत सुखी जीवन है। उस रात मैं भर नींद सोया।

पर आलस्य मुझमें इतना प्रधान है, और टालनेकी वृत्तिने उसमें 'आगमें घीकी भाँति' ऐसा चमत्कारी प्रभाव उत्पन्न किया है कि समयसे कोई भी काम कर पाना मेरे लिए कठिन हुआ है। यही कारण था कि जो कहानी दूसरे दिन इतवारको लिखी जानी थी वह कई महीनों बाद अब पूरी होनेको है। इसमें भी कुछ ईश्वरका ही हाथ समझता हूँ, क्योंकि अपनी ओरसे तो भरसक मेरा यही यत्न रहा था कि किसी तरह उससे बचूँ, भागूँ या हटूँ। सम्भवतः इसीलिए कहानी लिख भी गयी कि एक तरहका बोझ अपने मनपर मालूम हो रहा था और मैं उससे छुटकारा पाना चाहता था। बोझ शायद बुरा शब्द है, कर्त्तव्य भी कुछ बहुत अच्छा नहीं है; पर उसे आनन्द कहनेको जी नहीं होता। उस शनिवार या इतवारको कहानी लिख डालता तो लिखनेकी क्रिया भी उतनी ही आनन्द-पूर्ण होती, जितना कि यह अनुभव था। बादमें उसने मुझे शारीरिक कष्ट अधिक दिया, आत्मिक तृप्ति कम।

बहरलाल, अब इस कहानीको लेकर कष्ट-ही-कष्ट मिलना शेष है। अभी इसे अपने हाथों टाइप करलेमें न जाने कितना समय लगेगा और कितना ग़ुस्सा अपने ऊपर आये। फिर कहानी छपनेके लिए जायेगी और कई जगहोंके चक्कर काटेगी। फिर किसी पत्रिकाके सम्पादकपर ग़ुस्सा आता रहेगा कि 'कहानी दाबे हुए बैठे हैं, न छापते हैं, न वापस करते है!' फिर न जाने कब पारिश्रमिक आयेगा, और पता नहीं, कब मुझे अपने नैतिक दायित्वसे उऋण होनेका अवसर मिलेगा।

यों, मेरे मनमें एक विचार यह भी उठता है कि कहानी लिखते समय तो ध्यानमें कोई-न-कोई पात्र होता ही है। अगर अपनी कहानीसे प्राप्त आयको मैं इस तरह बाँटने लगूँगा तो हो चुका। सच है कि इस कहानीकी प्रेरणा भवानीशंकरने दी है, और मैंने संकल्प भी किया था कि सारा पैसा उसे दे दूँगा, लेकिन अकेली प्रेरणासे क्या होता है? मैंने जो मेहनत की है लिखनेमें, जो खून-पसीना बहाया हैं, उसका भी तो कुछ मूल्य है। इसलिए मैंने एक बार सोचा कि सम्पादक महोदयके नाम भेजे गये पत्रमें लिख दूँगा कि इस कहानीके लिए चालीस रुपये तो मेरा 'पारिश्रमिक' है इसके अतिरिक्त जो 'पुरस्कार' आप देंगे वह भवानीशंकरको दिया जायेगा।

मैं कुछ जान नहीं पाता हूँ कि इस कहानीसे प्राप्त रक़म भवानीशंकरको दूँगा या नहीं। इतने समयके बाद कुछ रुपये लेकर उसके पास जाना और गड़े मुरदे उखाड़ना क्या अच्छा मालूम होगा? क्या पता वह कहाँ काम करता था? इतने बड़े शहरमें उसे खोज पाना कोई आसान बात है? कौन जाने वह कहीं और चला गया हो? हो सकता है कि वह इन रुपयोंको भी लेनेसे इनकार कर दे।...अपने ऊपर इस तरह कहानी लिखी देख क्या उसे अच्छा लगेगा?

कहानी अब पूरी हो गयी है तो इसी तरहके ऊहा-पोहमें मन पड़ा हुआ है। मैं कह नहीं सकता कि पारिश्रमिकका मनीआर्डर ले लेनेके बाद क्या करूँगा। नहीं जानता कि रुपये जेबमें रखकर भवानीशंकरको खोजने निकल सकूँगा या नहीं।...

हाँ, यह अवश्य है कि अगर रुपये मेरे ही पास पड़े रह गये तो मैं अपनी नैतिकतासे अधिक अपनी आलस्य-वृत्तिको दोषी ठहराऊँगा। तमाम सोच-विचारके बाद भी, भवानीशंकरको रुपये देनेका अभी तक मेरा पूरा इरादा है। आलस्यके कारण ऐसा न कर सका तो बात दूसरी है। कौन नहीं जानता कि आलस्यके कारण बड़े-बड़े काम अधूरे रह जाते हैं!

मास्टरजी

पौने छह बजे। मास्टरजीने दोस्तोंसे पीछा छुड़ाया और तेज़-तेज़ पैड्ल मारते हुए स्टेशन आये। साइकिलवालेके पास साइकिल जमा की। उचटती हुई निगाह बुकिङ्-ऑफ़िसकी ओर डाली और विश्वास-भरी आँखों से अपने हाथकी दोनों किताबोंको देखा। जबतक उनके हाथमें किताबें हैं, कौन बोल सकता है? टिकेट-चेकर और टिकेट-कलेक्टर तो विद्यार्थियों की शक्ल देखकर कतराते हैं। क्यों उनसे टिकेटकी पूछ-ताछ करके अपनी फ़ज़ीहत करायें? टिकेट-चेकरोंको क्या दुनियामें एक यही काम है कि टिकेट जाँचते फिरें?

साइकिल रास्तेमें लड़ते-लड़ते बची थी। मास्टरजीका दिल अब भी धड़क रहा था। पत्थरकी सीढ़ियोंपर शिथिल हो गये चरणोंको घसीटते हुए वे जब रेलके पुलपर पहुँचकर ताज़ी हवा खानेके लिए क्षण-भरको रुके, तो साँस फूल गयी थी।

रेलवे ब्रिजपर खड़े हुए मास्टरजीने प्लैटफ़ॉर्मपर निगाह डाली। सब-कुछ हर दूसरे दिनकी भाँति था। वही दूरसे बच्चोंका खेल दिखनेवाली छोटी लाइनकी गाड़ी, फल, दही-बड़े और पूरियाँ बेचते हुए एक-से वर्दी पहने खोंचेवाले और यात्रियोंके झाँकते हुए सिर, प्लैटफ़ॉर्मपर टहलती हुई टाँगें, उजले-मैले कपड़े और इन सबको देखती हुई भी न देखती हुई-सी मास्टरजीकी आँखें।

मास्टरजीने देखा कि जो सबसे अधिक गतिशील वस्तु यहाँ है वह ट्रेन तो बिलकुल निश्चल खड़ी है, और उस ट्रेनमें सिकुड़े-सिमटे या फैलकर बैठे व्यक्ति भी कैसे स्थिर जड़-सरीखे हैं।

लेकिन अन्यत्र सर्वत्र चहल-पहल है। प्लैटफ़ॉर्मपर अजब दौड़ा-दौड़ी

है, रेलवे ब्रिजपर भी आवागमन कम नहीं है। लोग उधरसे आते हैं, टिकेट देकर फाटकके बाहर चले जाते हैं; लोग इधरसे जाते हैं भागते हुए, बदहवास या शान्त, स्थिर गतिसे। अकसर तो मास्टरजीसे पूछते हैं, "बाबूजी, सहसगाँवकी गाड़ी कहाँ लगी है ?....बाबूजी, झाँसी लैन किस प्लेटफारमसे जायेगी ?"

मास्टरजी कभी उँगलीसे, कभी सरके इशारेसे और कभी कुछ बोलकर इन विविध प्रश्नोंके प्रति अपना ज्ञान-अज्ञान प्रकट करते हैं।

दूर-दूर तक सिगनलोंकी लाल आँखें चमक रही हैं। अन्धकारमें छिपे काले अजगरकी पीठ-सरीखी पटरियाँ न जाने किन जगहों तक भागी चली जा रही हैं।

समूचे स्टेशनको कँपाती-गुँजाती हुई कोई ट्रेन अभी आयी है। पुलपर एकाएक भीड़ बढ़ गयी है। मास्टरजी रेलिङ् पकड़े खड़े हैं, फिर भी धक्के खा रहे हैं।

हारकर किताबें सँभालते हुए नवयुवक मास्टरजी सिगनलकी आँखोंसे आँखें मिलानेका मोह त्याग, पुलसे उतरकर प्लैटफ़ॉर्मपर आ गये। गाड़ी छूटनेमें अब भी कुछ देर थी। क्या करते, टहलने लगे। इधरसे उधर, उधरसे इधर........

गाड़ी छूटनेका वक़्त कुछ नज़दीक आया। प्लैटफ़ॉर्मकी क्रियाशीलता कुछ और बढ़ गयी। क्या जाने कहाँसे आ-आकर लोग ट्रेनके भीतर समाये जा रहे हैं। दही-बड़ेवाला इस तरह चीख रहा है मानो सारे दही-बड़े इसी गाड़ीपर बेचकर दम लेगा।

कहाँतक घूमें ? मास्टरजी एक बेंचपर बैठ गये। बग़लके ठेलेपर तली जाती पूरियोंकी गन्धसे उनका जी मिचलाने लगा। क्या जाने कैसा तेल-घी लगाते हैं ये लोग ! उठकर मास्टरजी दूसरी बेंचपर आ बैठे।

एक ओरसे तीन-चार विद्यार्थी चले आ रहे थे। विद्यार्थी क्या छिपाये छिपते हैं ? लापरवाहीसे पहने गये कपड़े, चलते-फिरतेमें हर ओर भटकती

निगाहें, हाथमें मुड़ी-तुड़ी फ़ाइलें और किताबें। ऐसे दो-तीन लोग साथ दिखायी दें, तो मास्टरजीको भाँपते देर नहीं लगती कि ये कौन हैं। मास्टरजीने किताब खोल ली और इबारतमें खो-जैसे गये।

एक आवाज़ आयी, "मास्टर साहब, नमस्ते!"

मास्टरजीने सर उठाया। दूसरी आवाज़ आयी, "नमस्ते, मास्टर साहब!"

"नमस्ते, नमस्ते! आओ भाई, बैठो। क्या कॉलेजसे सीधे आ रहे हो?"

"नहीं, मास्टर साहब! क्लास तो साढ़े चार बजे ही ख़त्म हो जाते हैं, लेकिन साढ़े छहसे पहले कोई गाड़ी ही नहीं। ऐसा खराब टाइमटेब्ल बना है, साहब, कि क्या कहें!"

"कुछ तो कॉलेजका टाइमटेब्ल खराब और कुछ रेलवेका। लेकिन चलिए, इसी बहाने आप लोगोंको माल रोड घूमनेका वक़्त मिल जाता है।" मास्टरजीने व्यंग्य करनेकी कोशिश की।

"अरे कहाँ, मास्टर साहब!" एक लड़केने ऐसे विशेष स्वरमें कहा, जिसका अर्थ यह भी था कि वक़्त मिलता या नहीं, लड़के तो माल रोड पर चेहलक़दमी करते ही।

दूसरेने पूछा, "मास्टर साहब, क्या आप भी रोज़ आते-जाते हैं?"

"हाँ भाई, कुछ दिनों कानपुरमें रहा था, लेकिन बड़ी परेशानी हुई। होटलका खाना हमसे नहीं चला। अब रोज़ आता-जाता हूँ।" मास्टरजी ने बताया।

"लेकिन इस ट्रेनपर आप कम ही दिखायी देते हैं?" किसीने प्रश्न किया।

"मैं अकसर साढ़े चार वालीसे चला जाता हूँ। आज रुक जाना पड़ा। दोस्तोंने रोक लिया।....चाय पिलानेके लिए।" कहकर मास्टरजी निरुद्देश्य हँसे।

खड़-खड़ करते ठेलेपर लोहेका एक बक्स ले जाते कुली दिखे।

खज़ाना आ गया, अब गाड़ी चलेगी। मास्टरजीने सोचा, जबतक खज़ाना न आ जाये ट्रेन रुकी रहती है। चलो ग़नीमत है, आज जल्दी आ गया।

गार्ड साहब मुँहमें सीटी दबाये, हाथमें लाल-हरी रोशनी देनेवाली लालटेन झुलाते हुए जल्दी-जल्दी यहाँ-वहाँ आते-जाते दिखे। एंजिनने सीटी बजायी, ओ-उई-उई-ई''''ब्हू ऊ ऊ''''

लड़कोंने पहले दर्जेके डब्बेपर क़ब्ज़ा कर रखा था। रोशनी जल रही थी और सारे पंखे फरफराते हुए हवा दे रहे थे। अपने कॉलेजके कई छात्रोंको मास्टरजीने पहचाना। सबके-सब रोज़ कानपुर आते हैं, रोज़ लौट जाते हैं। टिकेट कभी नहीं ख़रीदते, पर सफ़र फ़र्स्ट क्लासमें करते हैं। मास्टरजीने सोचा कि इन लड़कोंके साथ बैठते तो मज़ेसे हवा खाते हुए चले जाते, न कोई टिकेट-चेकर इस डब्बेमें घुसनेका साहस करता और न गेट-कीपर ही टिकेट माँगता।

तभी एक लड़केने पुकारकर कहा, "आइए, मास्टर साहब! इसी डब्बेमें आ जाइए। यहाँ काफ़ी जगह है।"

मास्टरजी अपने मनोभावको दबाते हुए बोले, "नहीं जी, आप लोग बैठिए वहाँ। मैं दूसरे कम्पार्टमेण्टमें जाऊँगा।" ऐसा कहते हुए मास्टरजीने सोचा कि लड़के यह देखकर अवश्य ही प्रभावित हुए होंगे कि मास्टर साहब ग़लत काम नहीं करते, तीसरे दर्जेका पास होनेपर पहलेमें सफ़र नहीं करते।

एंजिनने दोबारा सीटी दी और गाड़ी चल दी। एक-एक कर लड़के पहले दर्जेके डब्बेमें घुसने लगे। मास्टरजीके सामनेसे सेकेण्ड क्लासका एक डब्बा गुज़रा। इने-गिने छह-सात सम्भ्रान्त व्यक्ति बैठे थे उसमें। मास्टरजीके मनमें बिजलीकी तरह विचार कौंधा कि टिकेट न होनेपर तो जैसे तीसरा दर्जा वैसे ही दूसरा : चलो इसीमें बैठ लेते हैं! अगले स्टेशनकी ही तो बात है!

धीमे-धीमे सरकती ट्रेनपर चढ़नेमें मास्टरजीको बड़ा सुख मिलता

है। यह क्या कि गाड़ी छूटनेके घण्टे-भर पहलेसे कम्पार्टमेण्टमें जा बैठें और वहाँकी उमस-घुटन तथा चिल्ल-पोंमें सड़ते रहें।

कम्पार्टमेण्टके दरवाज़ेपर खड़े होकर मास्टरजीने बाहर देखा। गाड़ी जबतक प्लैटफ़ॉर्मके बाहर न निकल जाये तबतक अपनेको सुरक्षित नहीं कहा जा सकता।

पता नहीं क्यों, कभी-कभी वही हो जाता है जिसे आदमी बिलकुल नहीं चाहता। संयोगवश मास्टरजीको कुछ दूर सफ़ेद वर्दी पहने एक टिकेट-चेकर दिखायी दे गया। मास्टरजीने मनाना शुरू किया कि किसी आगे-पीछेके डब्बेमें वह चढ़ जाये। लेकिन वह कमबख्त इसी सेकेण्ड क्लासमें घुसनेका उपक्रम करने लगा। मास्टरजीने लगभग गिड़गिड़ाकर पूछा, "क्या इसी डब्बेमें आइएगा ?"

"क्यों, अपना मतलब बताइए ?" पायदानपर पैर रखते हुए चेकर बोला।

"अरे साहब, किसी दूसरे डब्बेमें चले जाइए," मास्टरजी साहस जैसा कुछ संचित करके बोले।

"आप घबराते क्यों हैं ? ऐसी भी क्या बात है ?" दरवाज़ेपर टिकेट-चेकर मास्टरजीकी बग़लमें आ खड़ा हुआ। जेबसे पेन्सिल निकालते हुए उसने कहा, "लाइए, आपका टिकेट देख लूँ।"

मास्टरजी कम्पार्टमेण्टके दरवाज़ेपर कुछ यों खड़े हो गये मानो डब्बेमें बैठे अन्य यात्रियोंको टी० टी०की उपस्थितिका आभास ही न होने देंगे। आहिस्तेसे स्थिर स्वरमें बोले, "मेरे पास तो मन्थली पास है।"

"वही सही, देखूँ आपका पास ?"

"मास्टरजीको गोली-जैसी लगी। बोले, "वो तो आज मैं लाया नहीं। पास भी क्या रोज़ लानेकी चीज़ है। घरपर भूल आया हूँ।"

टी० टी० कुछ तेज़ पड़ा, "देखिए मिस्टर, आप झूठ बोल रहे हैं। पास-वास कुछ भी नहीं है आपके पास। साफ़ क्यों नहीं कहते, टिकेट

नहीं खरीदा ?"

मास्टरजीने·······मुँह-ही-मुँह कुछ कहा। प्रतिवाद किया, "देखिए, आप यक़ीन क्यों नहीं करते कि मेरे पास मन्थली टिकेट है ? मैं ज़िम्मेदार आदमी हूँ। मैं····मैं डब्ल्यू० टी० नहीं चलता। मैं····मैं····"

डब्बेके भीतर बैठे किसी आदमीने आवाज़ दी, "जाने भी दीजिए, चेकर साहब। आप यहाँ तशरीफ़ लाइए।"

अब जाकर मास्टरजीकी चेतना लौटी कि वह सेकेण्ड क्लासमें बिना टिकेट सफ़र कर रहे हैं और पकड़ लिये गये हैं।

टी० टी० उन सज्जनके पास जाकर बैठ गया। और उन्होंने मास्टरजी को सम्बोधित कर आवाज़ दी, "आप भी आ जाइए, जनाब! अब क्यों वहाँ खड़े हैं ?"

मास्टरजी समझ गये कि अभी दरवाज़ेपर टिकेट-चेकरके साथ जो नाटक वह खेल रहे थे, कम्पार्टमेण्टके सभी यात्री उसके उत्सुक दर्शक रहे हैं। मास्टरजी सिर झुकाये हुए आये और सिर झुकाये ही सीटपर बैठ गये।

जिन सज्जनने इन दोनोंको बुलाकर बैठाया था, वे किञ्चित् उच्च स्वरमें, मानो सबको जगाते हुए बोले, "ये ज़िलेके एक मशहूर नेताके लड़के हैं। भई, मैं तो पहचानता ही न था। मुझे तो इन अमृतलालने बताया कि तुम राजेन बाबूके लड़के हो। यहाँ कानपुरमें पढ़ते हो क्या, भैया ?"

मास्टरजीने कुण्ठित स्वरमें बताया, "जी नहीं, यहाँ एक कॉलेजमें पढ़ाता हूँ।"

टी० टी० महाशय अचानक बोल उठे, "आप मास्टर होकर बिना टिकेट चलते हैं तो फिर लड़के क्यों न चलें ? आप लड़कोंको यही पढ़ाते हैं क्या ? अरे, बहुत छोटी-सी बात है—पाँच आनेका टिकट !—लेकिन यही छोटी-मोटी बातें हमारे कैरेक्टरको बना-बिगाड़ देती हैं।"

अत्यन्त व्याकुल होकर मास्टरजीने फिर सबको बताना चाहा कि मन्थली टिकट वे घरपर भूल आये हैं। पर यह झूठ इस समय उनसे दोबारा बोले न बोला गया। कण्ठावरोध हो आया।

चलो, बात आयी-गयी हो गयी। सब-कुछ मज़ाक़में टल गया। मालूम हुआ कि चेकर महाशय टिकेट जाँचने थोड़े आये थे। वे तो कम्पार्टमेण्ट्में पहलेसे बैठे अपने एक मित्रसे ग़पशप करने आये थे। इस बीच मास्टरजीके पिताके मित्र स्थूलकाय सज्जनने बग़ैर-टिकेट चलनेके अपने रोचक क़िस्से छेड़ दिये थे : कैसे गेट-कीपरको चकमा दिया, किस तरह गार्डको सूचना देकर भी टिकेट नहीं बदलाया, क्योंकर ट्रेनमें बग़ैर एक धेला खर्च किये बम्बई घूम आये।

पर मास्टरजी ग्लानिके मारे मरे जा रहे थे। सोच रहे थे कि वे शिक्षक हैं, उनसे आशा की जाती है कि वे लड़कोंको भविष्यका सही मार्ग दिखायेंगे। बिला-टिकेट सफ़र करके वे अच्छा मार्ग दिखा रहे हैं! पाँच आने पैसे! यह पाँच आने बचानेकी बात नहीं है। यह तो अपराधका आरम्भ है। इसी तरह आदत पड़ जाती है। मास्टरजीको लगा कि वे अभी तक अँधेरेमें भटक रहे थे। आज टी० टी०ने आँखोंके सामने पड़ा परदा उठा दिया। मास्टरजी अपने अपराधकी असह्य वेदनामें भीतर-ही-भीतर घुटने लगे। अपनेको धिक्कारते रहे, तुमने ऐसा किया''''तुमने? तुम क्या नहीं करोगे?'''

गाड़ीकी रफ़्तार धीमी पड़ गयी। शहरकी छुटफुट रोशनियाँ झलकीं। गाड़ीके पहिये पटरियाँ बदलने लगे। कैबिन पीछे छूट गया। इसी स्टेशनपर मास्टरजीको उतरना है। उनके मनमें उद्वेग उफनाने लगा। एक धक्का दे-कर ट्रेन प्लैटफ़ॉर्मपर रुक गयी। मास्टरजीने धक्का-जैसा खाकर, बड़ी देरसे मुट्ठीमें दबे एक रुपयेके नोटको टिकेट-चेकरके हाथोंमें ठूँस दिया, "लीजिए, मुझसे चार्ज ले लीजिए।"

कम्पार्टमेण्टके कुछ लोग चौंके, कुछ मुसकराये। टिकेट-चेकरने कहा,

"आप भी खूब हैं, मिस्टर ! बातकी-बात थी, उसमें चार्ज क्या लेना ?"

किसी दूसरेने कहा, "अब जाइए भी, क्यों परेशान होते हैं !"

पर मास्टरजी रुँधे कण्ठसे बोले, "देखिए, चार्ज तो आप ले ही लीजिए, नहीं मुझे बड़ा अफ़सोस होगा। आज आपने मुझे बड़ी शिक्षा दी है !" मुँह-ही-मुँह उन्होंने कुछ कहा और भावावेशको छिपाते हुए ट्रेनसे उतरकर चल दिये। ज़रा दूर जाकर मुड़कर एक दृष्टि सेकेण्ड क्लासपर डाली तो दिखा कि कुछ विवशता-सी दिखाते हुए टिकेट-चेकरने नोट अपनी जेबमें रख लिया है। यह देख मास्टरजीने अनुभव किया, मानो चार्ज देनेके बाद उनके अपराधकी गुरुता कुछ कम हो गयी है। फिर भी पछतावा उनके मनमें बना रहा।

पछतावा अब क्या कभी मिट भी सकेगा ?

छोटी लाइनकी वह ट्रेन चल पड़ी। अगले स्टेशनपर रुकी। यात्रियोंके चढ़ने-उतरनेके कोलाहलको खोंचेवालोंकी चीख-पुकारने और भी बढ़ा दिया था। उसी सेकेण्ड क्लासमें बैठे टी० टी० महाशय अपने मित्रसे ग़पशप कर रहे थे कि समोसेवालेकी आकर्षक ध्वनि उन्होंने सुनी। खिड़कीमें सर डालकर उन्होंने पूछा, "क्यों बे, ताज़े हैं ?"

"बिलकुल गरमागरम, हुजूर ! छूकर देख लीजिए, सरकार।"

"सोलह समोसे दे जल्दीसे !" हुक्म हुआ।

और समोसेवालेके हाथमें नोट थमाकर समोसोंका दोना डब्बेके यात्रियों की ओर बढ़ाते हुए, सफ़ेद वर्दी पहने टिकेट-चेकरने मुसकराकर विनोदपूर्वक कहा, "लीजिए साहब, समोसे खाइए।"

दफ़्तरका बाबू

रोज़-रोज़ दफ़्तर देरसे जाना अच्छा नहीं लगता। आज वह साढ़े नौ बजे ही बस-स्टॉपपर पहुँच गया। थोड़ी देरमें बस भी आती दिखी। और बड़ी देरसे धैर्यपूर्वक इन्तज़ार करनेवाले बाबुओंकी क़तार विचलित हो उठी। बसके नज़दीक आते-न-आते भगदड़ मच गयी और सीधी पंक्ति वक्राकार होकर वृत्ताकार हुई और फिर पंक्तिके सारे बिन्दु सिमटकर एक ही केन्द्रपर इकट्ठे हो गये, यानी बसके प्रवेश-द्वारपर।

वह दूसरोंकी बनिस्बत देरमें चढ़ पाया, लेकिन एक परिचित सज्जन-की बग़लमें उसे जगह मिल गयी। वहाँ बैठते हुए उसने अनुभव किया कि यह व्यक्ति मात्र परिचित नहीं मित्र है, क्योंकि इसने मेरे लिए अपने पास एक सीट सुरक्षित रखी और मुझे काफ़ी देर तक खड़े रहनेके सम्भावित कष्टसे बचाया।

उसने सोचा कि अब इस मित्रके लिए भी टिकट लेना पड़ेगा। या कौन जाने, मित्रने जैसे उसके लिए जगह रखी, वैसे ही टिकट भी खरीद ले! पर दोनों ही सम्भावनाएँ उसे अच्छी नहीं लगीं, क्योंकि एकके द्वारा दोनोंके टिकट लिये जानेका अर्थ होता—घनिष्ठता। और घनिष्ठता स्थापित करनेकी इच्छा उसमें भले ही हो, निभानेकी सामर्थ्य नहीं है। सच तो यह है कि वह किसीको मित्र भी नहीं बना पाता, लोग उससे केवल परिचित होकर रह जाते हैं। बहरहाल, टिकटवाली दुविधा उस मित्रने ज़्यादा देर नहीं रहने दी। अपना टिकट ले लिया उसने।

वह कुछ हतप्रभ हो गया। यह भी न कह सका कि "मैं ले तो रहा हूँ टिकट आपका।" उधेड़बुनमें अपना भी टिकट न ले सका। कण्डक्टर आगे बढ़ गया। उसने उन मित्रसे बातचीत शुरू कर दी जो अब फिर परिचित-

की श्रेणीमें पहुँच गये थे।

अगले स्टॉपपर बस रुकी, लेकिन जगह कहाँ थी! तीन-चार लोगोंको लेनेके बाद कण्डक्टर दरवाज़ेपर अड़ गया। "बाक़ी लोग मेहरबानी करके बस छोड़ दें," उसने····उसने कहा और क्षणिक आशासे दीप्त कितने ही चेहरे उसके इन शब्दोंको सुनकर बुझ गये। लेकिन भीड़में जो सबसे आगे थे उनमें कुछ उम्मीद बची थी। उनकी अनुनय-विनय सुनने ही नहीं देखने लायक़ थी। ऐसा लगता था कि उनके जीवनकी एकमात्र आशाका आधार यह बस है। यह न मिली तो मानो उनका सब-कुछ छिन जायेगा।

लेकिन कुछ कण्डक्टर होते ही ज़ालिम हैं। उन्हें बेचारे मुसाफ़िरोंपर दया नहीं आती। वे महज़ क़ायदा-क़ानून जानते हैं। वे एक बार अड़ते हैं तो फिर अड़े ही रह जाते हैं। निदान, किन्हीं और लोगोंको लिये बग़ैर—किन्तु काफ़ी झिकझिकके बाद—बस चली और अगले स्टॉपपर रुकनेका आभास देकर भी रुकी नहीं।

वह देख रहा था कि बसको रुकता जान स्टॉपपर खड़े लोगोंकी उत्-कण्ठा बेहद बढ़ गयी थी, न रुकता देख वे व्यग्र हो उठे थे, और जब बस उन्हें पीछे छोड़कर बढ़ गयी तो वे सब कैसे निर्जीव पड़ गये थे! उसने सोचा कि इस नगरके व्यस्त, नियमित, एकरस जीवनमें यही क्या कम है कि हर बस-स्टॉपपर लोग प्रतीक्षा करते हैं, व्याकुल और विह्वल होते हैं, बस-में प्रवेश पानेका प्राणपणसे यत्न करते हैं, सफल होनेपर मुसकराते और आँखोंमें चमक ले आते हैं, अन्यथा विवश और असहाय होकर छटपटाते हैं। यह सब क्या कुछ कम है!

हवासे बातें करती हुई बस चली जा रही थी। उसे लगा कि इस जीवन-हीन नगरमें यदि कहीं जीवन है तो केवल बस और उसके मुसाफ़िरों-में। और तभी: शायद हॉर्न बजा या टायर फटा। ज़ोरका धमाका हुआ, बस डगमगाकर एक ओर झुकी, खड़े हुए लोग एक-दूसरेपर गिरे, पासमें बैठे परिचित महाशयका सर खिड़कीसे टकराया, बस दूसरी बार डगमगायी,

फिर सँभली और टेढ़ी होकर खड़ी हो गयी।

यह एक अजीब घटना थी। क्या हुआ, यह कोई न जान सका था। लेकिन घबड़ाये हुए सभी थे। सब उतरने लगे बससे। वह भी उठा। शायद बसका कोई पहिया निकल गया है, उसने सोचा, लेकिन ख़ुश-क़िस्मती यह कि बस उलटी नहीं।

क्षण-भरमें बस खाली हो गयी। और उसी क्षण यह मालूम हुआ कि एक आदमी बसके नीचे आ गया है।

उसका दिल ज़ोरोंसे धड़क उठा। वह समझ न सका कि क्या करे, क्या नहीं। फिर काँपते हुए हाथोंसे उसने दूसरोंके साथ-ही-साथ बसको धक्का देना शुरू किया। वह जैसे-जैसे आगे बढ़ी, उसके दिलकी धड़कन भी बढ़ती गयी, और नीचे पड़े जिस व्यक्तिको कुछ लोग झुककर देख रहे थे उसपर-से जब बस हट गयी तो उसका दिल आख़िरी बार भभककर बुझ-सा गया।

कैसा दारुण दृश्य था! ऐसा कि जैसा उसने कभी न देखा था। तमाम लोगोंके झुण्डके बीच एक निश्चल मानव-शरीर पड़ा हुआ था—ख़ूनसे लथ-पथ, धूलि-धूसरित, संज्ञाहीन। दुबारा उस ओर देखनेका साहस न हुआ उसे। घबराकर वह लोगोंके घेरेसे बाहर हट आया और "हे राम!" कहते हुए उसने अपनेको नितान्त दीन, विपन्न और असहाय अनुभव किया।

लेकिन उसको सँभालनेकी वहाँ किसे फ़ुरसत थी! सब लोग बससे कुचले व्यक्तिके गिर्द खड़े थे और पानी, डॉक्टर, पुलिस वग़ैरहकी ज़रूरत महसूस कर रहे थे। कुछ लोग पास पड़ी एक मुड़ी-तुड़ी-पिचकी-बदशक्ल चीज़को देख रहे थे जो अभी कुछ देर पहले तक एक नयी, क़ीमती और ख़ूबसूरत मोटर-साइकिल थी।

मोटर-साइकिलपर निगाह जमाये हुए उसने सुना।...लोग कह रहे थे कि तेज़ रफ़्तारसे मोटर-साइकिल भगाता हुआ वह आदमी बग़लकी एक सड़कसे आया और बड़ी सड़कपर पहुँचा ही था कि बससे टक्कर हो गयी।

मोटर-साइकिल समेत वह बसके नीचे आ गया।····

यह वर्णन सुनकर उसके शरीरमें झुरझुरी-सी दौड़ गयी। अपनी शंकित और भयभीत दृष्टि उसने दबे-दबे उस ओर फेरी, जहाँ वह कुचला हुआ व्यक्ति पड़ा था। और इसके पहले कि वह घबराकर अपनी आँखें मींच लेता, यह दिख ही गया कि उस मानवाकार मांस-पिण्डने एक हिचकी भरी और ढेर-सा गाढ़ा-गाढ़ा लाल खून उसके मुँहसे निकलकर गालों और गरदनपर फैल गया।

कैसा मर्मभेदी अनुभव था! विचलित हो उठा वह! रक्तका कसैला, घिनौना स्वाद मानो उसके मुँहमें भर गया था। उसे लगा कि यदि वहाँ और रुका रहा तो उसे उबकाई आ जायेगी। फिर भी वह उस जगहसे हट नहीं सका। लोग-बाग आहत व्यक्तिको उठाकर अस्पताल ले गये। दफ़्तरों के बाबू दुर्घटना-स्थलपर आकर रुकनेवाली अन्य बसोंमें सवार होकर जाने लगे। कुछ क्षणोंके लिए उस स्थान-विशेषपर जीवनकी जो गति केन्द्रित हो गयी थी वह फिर सर्वत्र बिखरने लगी। लेकिन वह बड़ी देर तक, न जाने क्यों, एक किनारे खड़ी बस, दूसरे किनारे पड़ी टूटी मोटर-साइकिल और सड़कके बीचोबीच सीमेण्टपर अंकित खूनके धब्बोंको ताकता खड़ा रहा।

उसका ध्यान तोड़ा बस-कण्डक्टरने। बोला, "बाबूजी, एक बस आ रही है। आप उससे चले जाइए। हमें तो अभी यहाँ रुकना पड़ेगा। पुलिस आयेगी, फिर बयान होंगे। आप क्यों दफ़्तरको देर कर रहे हैं।"

दफ़्तर? ओह, दफ़्तर!

यन्त्रचालित-सा वह बसकी ओर बढ़ा और यद्यपि उसमें काफ़ी जगह थी, फिर भी ऐसी हड़बड़ीमें भीतर घुसा मानो अपनी ओरसे तनिक भी ढील दी नहीं उसने कि कण्डक्टर बाहर ही रोक देगा।

दफ़्तर पहुँचनेपर मालूम हुआ कि हाज़िरीका रजिस्टर साहबके पास जा चुका है, वहीं जाकर दस्तखत करने होंगे। लेकिन इस सूचनाको उसने आज कुछ विशेष महत्त्व न दिया और साहबके कमरेकी चिक हटाकर

भीतर दाखिल हो गया। साहब ताज़ा अखबार पढ़ रहे थे। निगाह उठाकर उन्होंने पहले अपनी कलाई-घड़ीको और फिर उसे देखा। बोले, "आज भी आप देरसे आ रहे हैं ?"

"सर !" उसने कहा, "आज मुझे एक बस छोड़कर दूसरीसे आना पड़ा।" बात यह थी कि मेरी बसका ऐक्सिडेण्ट हो गया।

साहबका ध्यान अबतक किसी दिलचस्प खबरमें लग चुका था। बोले, "आइ सी !" लेकिन यह देखते हुए भी वह पूरी घटना उन्हें सुना गया। अन्तमें जब उसने कहा, "सर ! उस आदमीका बचना मुश्किल ही है। कौन जाने, अबतक मर ही गया हो।" तो साहबने अनिच्छापूर्वक अपनी दृष्टि क्षण-भरके लिए अखबारसे हटायी और टेलिफ़ोनको निहारते हुए बोले, "वेरी सैड ! अच्छा देखिए आप दफ़्तर वक़्तसे आ जाया कीजिए।"

और वह चिक उठाकर सर झुकाये हुए अपनी कुरसीपर आ बैठा। न जाने क्या उसके मनमें घुमड़ रहा था : शायद एक विशिष्ट घटनाका निजी बोध, अथवा उस बोधको सबतक पहुँचा देनेकी आकुलता। अपने निकट बैठनेवाले एक सहयोगीसे उसने पूछा, "पुलिसके 'फ़्लाइङ् स्क्वाड' का टेलिफ़ोन नम्बर मालूम है आपको ?"

सहयोगी बोला, "नहीं तो, लेकिन 'फ़्लाइङ् स्क्वाड'की ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी ?"

उसका कुण्ठित मन व्यग्र हो उठा कि कैसे एक ही शब्दमें सारी कथा बता दे। "उफ़," वह बोला, "बड़ा भयानक दृश्य था !...." और जल्दीसे घटनाका विवरण सुनाकर, टेलिफ़ोन डाइरेक्टरीके पन्ने पलटते हुए उसने बताया कि इसके बावजूद बसका ड्राइवर पेड़के नीचे बैठा इस तरह बीड़ी पी रहा था मानो कहीं कुछ हुआ ही न हो।

सहयोगी साइकिलसे दफ़्तर आता था और स्वभावतः बस-व्यवस्थाका विरोधी था। ड्राइवरोंको गाली देकर बोला, "शराब पीकर बस चलाते हैं और राहगीरोंको कुचलते फिरते हैं। लेकिन आप पुलिसके चक्करमें बेकार

ही पड़ रहे हैं। पुलिस क्या आपके फ़ोनका इन्तज़ार कर रही होगी ? अब तक वहाँ जाकर उसने काररवाई शुरू भी कर दी होगी।"

उसने कहा, "पन्द्रह मिनिट पहले तक तो वहाँ कोई पहुँचा न था।"

सहयोगीने समझाया, "फ़ोन कीजिएगा तो गवाहीमें फाँस देगी पुलिस आपको। दौड़ते-दौड़ते दम निकल जायेगा।"

समस्याके इस पहलूपर उसका ध्यान गया ही न था। और एक बार ध्यान चले जानेके बाद इसकी उपेक्षा करना असम्भव था। पर इस कारण उसकी उद्विग्नता बढ़ी ही, कम न हो सकी। एक ज़रूरी काग़ज़ कई दिनों से निबटानेको पड़ा था किन्तु उसमें हाथ लगानेकी भी इच्छा न हुई। उस दृश्यसे अपनेको हटानेका जितना ही यत्न वह करता उतना ही मन उस ओर जाता। सादे काग़ज़पर वह बड़ी देर तक आड़ी-तिरछी रेखाएँ बनाता रहा। तभी एक मित्र आ गये। अनमना-सा उठकर वह उनके साथ चाय पीने चल दिया। उखड़ी-उखड़ी-सी बातें होने लगीं। यहाँतक कि मित्र पूछ बैठे, "क्यों, क्या बात है ? सब ठीक-ठाक तो है न ?"

इतनी देरसे उसको शायद इसी प्रश्नकी प्रतीक्षा थी। बोल पड़ा, "आज मैं बहुत दुःखी हूँ। आज मैंने अपनी आँखोंके सामने एक व्यक्तिको दम तोड़ते देखा है।" और वह सारी कहानी एक साँसमें सुना गया। शायद उसे भय था कि बीचमें तनिक रुकते ही मित्र कोई दूसरी बात छेड़ देंगे। हुआ भी कुछ ऐसा ही। मित्रने दुःख भी न प्रकट किया। बोले, "यह क्या है ! मैंने इससे कहीं जबर्दस्त ऐक्सिडेण्ट देखे हैं। पिछले ही साल मेरे कज़िनकी गाड़ीका एक सीरियस ऐक्सिडेण्ट हो गया....."

इन शब्दोंने उसके मनपर क्या आघात किया, इसका कोई खयाल किये बग़ैर मित्र उत्साहपूर्वक दुर्घटनाका हाल बताते रहे, मानो वह कोई चुटकुला हो। यहाँतक कि वह और अधिक न सुन सका। "भई, मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है। अब चलूँगा," कहकर वह बीचमें ही उठ पड़ा।

दफ़्तरमें बाक़ी समय काटना दूभर हो गया। जैसे-तैसे पाँच बजे। अब

फिर बसकी क़तारमें खड़े होना पड़ेगा ! यह विचार आज और दिनोंकी अपेक्षा कहीं अधिक दुःखदायी था। किन्तु जब सभी लोग बसके अड्डेकी ओर भागते-से जा रहे हों तो वही कैसे रुकता ! क़तारमें लगकर सोचने लगा कि कहीं सुबहवाली बसमें ही न लौटना पड़े। इन तमाम लोगोंमें-से किसका चेहरा सुबहवाले व्यक्तिसे मिलता-जुलता है, यह जाननेके लिए उसने अपनी दृष्टि चारों ओर फेरी; लेकिन थोड़ी ही देरमें यह अनुभव किया कि यहाँ उस-जैसा कोई नहीं। जीवनहीन, थके और उदास मुख तो अनेक या शायद अधिकांश थे, पर वैसा निरीह और विकृत एक भी न था।

क़तार धीरे-धीरे सरक रही थी। उसका नम्बर भी आखिरकार आ ही गया। जगह भी अगली सीटपर मिल गयी। बस अपनी पुरानी गतिसे भाग चली, शायद इसलिए कि आगेवाली बसोंको पीछे छोड़ जाये और पीछे वालियोंको आगे न निकलने दे। वह धीमेसे मुसकराया····खूब, शहरकी बसोंमें यह अच्छी दौड़ हो रही है !

तभी एक हलकी-सी चीख उसके मुँहसे निकली। किलकारी भरते हुए दो बच्चे सामनेके घरसे निकले और सड़क पार करते हुए पार्कमें घुस गये। न उन्होंने बसकी कोई परवाह की और न बसने ही उनकी। अभी कुचल जाते तो ! सहानुभूति पानेकी इच्छासे उसने दूसरे मुसाफ़िरोंको निहारा, लेकिन वे सब या तो अपनेमें या दुनियाकी फ़िक्रोंमें डूबे हुए थे।

शामके रंग अभी चटख न हुए थे। धूपके सिरे जहाँ-तहाँ उलझे नज़र आते थे। बस एक मोड़पर घूमी तो सामने एक घर औरोंसे भिन्न दिखा। लाउडस्पीकर एक दुःख-भरा फ़िल्मी गीत गुँजा रहा था और बिजलीके रंग-बिरंगे बल्बोंकी झालरें उदास रोशनी छितरा रही थीं। पलक झपकतेमें यह दृश्य ओझल भी हो गया।

बस उसके घरके निकटवाले स्टॉपपर रुकी। उतरकर उसने मकानोंकी दो क़तारें पार कीं। तीसरीमें उसका घर था। खिड़कीसे झाँकती हुई पत्नी लॉनमें ऊधम मचाते बच्चोंको ताक रही थी। उसे आते देखकर पत्नीके

होंठोंपर अभ्यस्त मुसकराहट खेल गयी। दरवाज़ा खोलते हुए बोली, "आज बड़ी जल्दी आ गये।"

जितनी देरमें उसने हाथ-मुँह धोया, पत्नीने चाय तैयार कर दी। कहा, "थके हो, एक प्याला चाय पी लो। कपड़े बादमें बदलना।"

दफ़्तरसे लौटनेपर पत्नीको दिन-भरका अपना सारा कार्यक्रम सुना देना उसकी पुरानी आदतोंमें शामिल था। शायद इसीलिए आज भी पत्नी आधी पढ़ी किताबमें उँगली लगाकर उसके पास बैठ गयी। वह सोच रहा था कि बात शुरू किस तरह की जाये। फिर उसने निश्चय किया कि बिलकुल शुरू से ही बताना ठीक होगा। बिना किसी भूमिकाके वह कह उठा, "बस तो आज मुझे समयसे मिल गयी थी। तनिक भी इन्तज़ार न करना पड़ा। लेकिन दफ़्तर पहुँचनेमें आज भी देर हो गयी। बात यह थी कि इधर बस जा रही थी, उधर एक मोटर-साइकिलवाला तेज़ीके साथ आया और उसने बससे पहले सड़क पार कर लेनेकी कोशिश की। फिर क्या! वह गाड़ीके नीचे आ गया।"

पत्नी विचलित हो उठी, "हाय! चोट तो नहीं लगी उसे?"

"चोट! तुम चोटकी कहती हो! अरे, यह पूछो कि ज़िन्दा कितनी देर बचा!"

दोनों कुछ क्षण चुप रहे। फिर पत्नी बोली, "उसके घर भी किसीने खबर पहुँचायी कि नहीं?"

"मालूम नहीं। उस समय तक तो उसके नाम-धामका कुछ ठीक पता चला न था।"

पत्नीने व्यग्र होकर कहा, "कौन जाने, उसके घरवाले अभी इन्तज़ार कर रहे हों कि वह दफ़्तरसे लौटता होगा!"

वह चुप रहा। इस सम्भावनापर उसने ग़ौर किया ही न था। अचानक पत्नी बोल उठी, "ये मोटर-साइकिलकी सवारी तो बड़ी खराब है। रोज़ ही अखबारमें ऐसी कोई-न-कोई खबर छपती है।"

कुछ रुककर पत्नीने कहा, "सुनो! जो रुपये हमने जोड़-बचाये हैं, उनसे मेरे लिए जड़ाऊ कंगन बनवा दो। मोटर-साइकिल तो अब मैं तुम्हें खरीदने न दूँगी ! इस सवारीका क्या भरोसा !"

'हूँ' से अधिक और कुछ उससे नहीं कहा गया। ठीक ही तो था पत्नी का विचार ! मोटर-साइकिलकी सवारी सचमुच ही खतरनाक है। कब आदमीकी जानपर आ बने, नहीं कहा जा सकता। चायका प्याला उसने रख दिया। मेज़पर जड़े काले—चमकदार शीशेसे टकराकर प्यालेने एक बेसुरी आवाज़ पैदा की। काले शीशेमें उसके चेहरेका अक्स झलक रहा था। किसकी शक्ल है यह ?—उसने पहचाननेकी कोशिश की। धूलसे सने, रक्त से लथपथ एक धुँधले, अपरिचित और विकृत मुखने जैसे कुछ बतानेकी कोशिश की, लेकिन शब्दोंकी जगह निकली सिर्फ़ लाल गाढ़े खूनसे भरी एक हिचकी !

उसके धीरजका बाँध टूट गया। मेज़पर सर रखकर वह बिलख-बिलख-कर रो पड़ा ! मेज़पर जड़ा काला चमकीला शीशा उसके फीके—निष्प्रभ आँसुओंसे मैला होने लगा।

उधर रसोईघरमें, पत्नी खट-खट खट-खट स्टोवमें हवा भर रही थी, और आँच जितनी तेज़ हो रही थी उसी अनुपातमें स्टोवकी भरभराहट भी बढ़ती जाती थी।

ख़र्राटे

सुबह होनेपर सुबह सब जगह होती है, लेकिन रंग हर जगहका अपना-अपना ख़ास होता है। वहाँ, हकीमजीवाले पार्ककी तरफ़ तरह-तरहकी बेशुमार चिड़ियें अपने गीतोंसे सूरजकी किरनोंकी अगवानी करती हैं। उधर, मस्जिदके इर्द-गिर्द मुर्ग़ अलस्सुबह बाँग देना शुरू करते हैं और जमाल मियाँको छोड़ बाक़ी हर बूढ़े-बच्चेको जगाकर ही दम लेते हैं। क़स्बेसे तनिक हटकर बनी सिविल लाइनकी नुक्कड़वाली कोठीमें जो वकील साहब रहते हैं वे रातमें सोते तो हैं दवाईकी टिकिया खाकर और दिन चढ़े जागते हैं ऐलार्म घड़ीकी चीख़ोंसे उकताकर।

और यहाँ कायस्थोंके इस मुहल्ले—क़ानून गोयानमें, मुँहअँधेरे रोज़ उस कोनेवाले अधटूटे घरसे उठकर कुछ ध्वनियाँ आस-पासके घरोंमें मँडराने लगती हैं और अपनी चारपाईपर करवटें बदलते हुए दमेके मरीज़ लाला रामभरोसे जान जाते हैं कि पण्डित राधेश्यामजी जाग पड़े हैं : चार बज गये।

कुछ तो पण्डित राधेश्यामकी आवाज़ बुलन्द है और कुछ उस वक़्त सन्नाटेका आलम ऐसा रहता है कि न सिर्फ़ उनकी बोली बल्कि हर आवाज़ दूर-दूर तक साफ़ सुनायी देती है। अब वे कुल्ला कर रहे हैं, अब 'ओ ओं' करके गला साफ़ किया, और अब खड़ाऊँ पहनकर खटखट, खट-खट करते हुए कुएँकी तरफ़ जा रहे हैं। एक हाथमें डोल खन-खन बज रहा है, दूसरेमें लाठी लिये हैं जिसे थोड़ी-थोड़ी देर बाद ज़मीनपर पटकते जाते हैं। मुहल्ले-भरमें मीठा-मीठा स्वर गूँज रहा है : "उठ जाग मुसाफ़िर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है!"

नित्यका नियम है पण्डितजीका। नहा-धोकर और 'फचर-फचर'

धोती छाँटनेके वाद वे समयसे पूजापर वैठ जाते हैं। घण्टों पूजा चलती है उनकी। पास-पड़ोसमें रहनेवालोंकी सुवह आकर गुज़र भी जाती है, लेकिन पण्डितजीकी पूजा चलती रहती है। 'त्वमेव सर्वं मम देव देव'का पाठ जव वे कर रहे होते हैं उसी समय पड़ोसके निगम साहवकी छोटी वच्ची जागकर घरमें कुहराम मचाती है और अपनी माँकी हज़ार कोशिशोंके बावजूद चुप नहीं होती। झल्लाती हुई माँ भुनभुनाती हैं: "मरी न सोती है, न सोने देती है।" और निगम साहव गुस्साकर कहते हैं, "क्या चख-चख लगाये हो, खुद तो भगवान्‌का नाम कभी ज़वानपर भी नहीं आता, अरे कमसे-कम सुन ही लेने दो! वाह, कितना सुन्दर पद है!" निगम साहव लेटे-ही-लेटे उस सुरीले स्वरमें अपनी मटके-जैसी आवाज़ मिलाकर गाते हैं:

"········ नमो नमो जगदम्ब! सन्त भक्तोंके काजमें करती नाहिं विलम्व!"

एक वँधे-वँधाये निश्चित क्रममें पण्डितजीका जाप चलता रहता है। मुन्शी कन्हैयालालकी बैठकके दरवाज़े उस वक़्त खुलते हैं जब पण्डितजी 'हनुमानचालीसा' पढ़ रहे होते हैं: कभी 'जय हनुमान ज्ञान गुन सागरके' समय और कभी 'राम काज करिवेको आतुरके' वक़्त। अख़वार पढ़नेके साथ-साथ मुन्शीजी सव-कुछ सुनते भी रहते हैं। 'श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन' आते ही आगेकी प्रतीक्षा किये बग़ैर वे अपनी निगाह गलीके छोरपर डालते हैं, क्योंकि पाठके इस स्थानपर पहुँचनेके समय ही सब्ज़ीवाला इस गलीमें आवाज़ लगाता है। और जैसे ही वह मुन्शीजीको दिखायी दे जाता है वे आश्वस्त होकर पुकारते हैं, "पुष्पा बेटी, सब्ज़ीवाला आ गया है।" और फिरसे अपने अख़वारमें तल्लीन हो जाते हैं।

नित्यका नियम है यह। पूजा समाप्त करनेके वाद पण्डितजी थोड़ी देर चुप रहते हैं और घरोंमें सुलगते हुए धुँए और खनकते हुए वरतनोंके वावजूद कुछ खाली-खाली जान पड़ता है। फिर, "पढ़ो पटे!····पढ़ो पटे राधेश्याम!" सुनकर अपनी कोठरीमें हड़बड़ीके साथ ताला वन्द

करती हुई मिसराइन् सोचती हैं कि आज भी देरी हो गयी; बहूरानी मुँह फुलाकर कहेंगी, "महराजिन, इससे तो अच्छा है कि हम खुद ही अपने हाथसे बना लें, लड़के स्कूल भूखे चले गये तो फिर तुम्हें रखनेसे क्या फ़ायदा !"

इधर मिसराइन बीस मिनिटका रास्ता पाँच मिनिटमें तय करनेके खयालसे जल्दी-जल्दी डग भरती हैं, उधर पण्डितजीके चूल्हेसे उठनेवाली धुएँकी लकीर पतली और धुँधली होती हुई धीरे-धीरे मिट जाती है।

फिर जब बाँहमें एक बकसिया दबाये हुए कचहरी जानेके लिए तैयार होकर पण्डितजी अपने घरके दरवाज़ेमें ताला लगाते हैं तो ठीक दस बजे होते हैं। पण्डितजी लैसन्सदार हैं। कचहरीमें स्टाम्प बेचते हैं। आदमी अपने उसूलके पक्के हैं। समयसे नहाते, समयसे बनाते-खाते और समयसे कचहरी जाते-आते हैं। उनके किसी कार्य-क्रममें व्याघात नहीं पड़ता। अपने अकेले रहते हैं: "न माधोसे लेना न ऊधोको देना।" सन्त आदमी हैं: किसीसे अधिक बोलते-चालते भी नहीं, बस कामसे काम रखते हैं। लेकिन सब लोग उन्हें बिलकुल अपना समझते हैं और उनके व्रत-नेमका आदर करते हैं। उनके सीधे तने हुए शरीर और शान्त गम्भीर आकृतिसे तपस्याका भाव प्रकट होता है।

ऐसे ये पण्डितजी इधर कुछ दिनोंसे अनमने थे। तख्तपर बकसिया रखकर अपने काग़ज़-पत्तर निकालने-धरनेमें अभ्यासवश लगे हुए थे, और बाँकेलालके दो-दो बार पुकारनेपर भी न सुन पाये तो उसने नज़दीक आकर पूछा, "महराज, आज कुछ मलीन दिखायी दे रहे हो !"

धीरेसे हँसकर पण्डितजी बोले, "मलिन क्या बाँकेलाल, माईंकी चिट्ठी आयी थी। इधर मामा नहीं रहे, उधर माईंके भाईकी नौकरी छूट गयी। न ससुरालमें कोई सहारा देनेवाला है, न मैकेमें। मुसीबतमें पड़ गयी हैं बेचारी।"

"मुला आपके मामा कुछ जमा भी तो छोड़के मरे होंगे महराज," बाँकेलालने कहा।

"कहाँकी जमा-जथा बाँकेलाल ! उलटे क़र्ज़ छोड़के गये हैं।"

"तब तो समस्या टेढ़ी है महराज ! आप क्या सोचते हैं ?" बाँकेलाल ने पूछा।

"अरे सोचना-विचारना क्या है भैया, उन्हें लिख दिया है कि यहाँ चली आओ। मामा नहीं रहे तो क्या हुआ, मुझसे जो हो सकेगा करूँगा।"

"सो तो है ही महराज, उनका कष्ट आप कैसे देख सकते हो।" बाँकेलालने बताया, पर उसकी सुने बग़ैर पण्डितजी कह चले, "बड़े पुण्यात्मा थे हमारे मामा। नियमके बड़े पक्के। कभी किसीको दुःखमें नहीं देख सकते थे। मैं तो खुद ही जाकर ले आता माईको, पर बाहर जानेमें मुझे स्नान-ध्यानका बड़ा कष्ट हो जाता है। तुम तो जानते हो मेरे खटरागको। अब कहाँ उसे लादे-लादे फिरूँ।" फिर अचानक प्रकृतिस्थ होकर बोले, "कहो, क्या चाहिए तुम्हें ?"

उसी रोज़ शामकी गाड़ीसे माई आ गयीं। अपने दुःख-दर्द और भाञ्जेकी उदारताकी विस्तृत कथाका थोड़ा-सा अंश सुनाकर उन्होंने आते ही घरका काम-काज सँभाल लिया। लकड़ियाँ गीली पड़ी थीं, माईने चूल्हा सुलगाया और दालके लिए अदहन चढ़ा दिया। चीज़-बस्त सँभालकर रखने लगीं। पण्डितजी खाटपर बैठे-बैठे थोड़ी देर देखते रहे, फिर मुख़्तार साहबके यहाँ जानेके ख्यालसे गलेमें कुरता डालकर बाहर आ गये। गलीमें अँधेरा घिर आया था लेकिन लड़कोंकी कबड्डी अब भी जमी हुई थी। यह पण्डितजीको कुछ नया-नया-सा जान पड़ा।

दूसरे दिन सुबह पण्डितजीने जागनेपर देखा कि माई पहले ही उठ गयी हैं। अपने बिस्तरेपर बैठी हुई होठों-ही-होठों राम-नामका जाप कर रही थीं। पण्डितजी नियमानुसार अपने नित्यकर्ममें लग गये। लोटा माँजते समय उन्हें गगरा, बाल्टी, डोल सभी पानीसे भरे हुए मिले।

फिर उन्होंने हाथ-मुँह धोते-धोते डोलका सारा पानी बहा डाला और खूँटीपर टँगी रस्सी उठाकर कुएँकी तरफ़ चल दिये, गाते हुए—"उठ जाग मुसाफ़िर भोर भई...."

नहानेके बाद धोती छाँटने नहीं दी माईंने। बोलीं, "छोड़ दो वहीं पाटिपर, मैं फैला दूँगी।" लेकिन पण्डितजीसे धोती वहाँ छोड़ते नहीं बनी। माईंकी निगाह बचाकर धोतीको जैसे-तैसे जल्दीसे निचोड़कर खूँटी-पर टाँग दिया कि ऐसा ही है तो अब अरगनीपर फैला देना इसे।

फिर पूजापर बैठे लेकिन चित्त बार-बार भटक जाता था। मन लगा नहीं पाये। कभी मुख्तार साहबका खयाल आ जाता, कभी अपने स्वर्ग-वासी मामाका। आसनसे जल्दी ही उठ गये पण्डितजी।

इसके बाद घरमें अपने लिए कोई काम ढूँढ़ने लगे। चटाई लपेटकर कोने में रख दी। अपना बिस्तरा खोलकर फिरसे लपेटा और खाटके सिरहाने रख दिया। खड़े-खड़े कुछ देर अकारण ही ताकते रहे, फिर तकली उठायी और कातते हुए घरसे बाहर निकले कि मुन्शीजीसे अखबारकी ताज़ी खबरें जान आयें। दरवाज़ेपर ही लाला रामभरोसे मिल गये। बोले, "पण्डित जी, वो 'नींद-भर सोयो'वाला पद आज आपने नहीं गाया। मैं कबसे कान लगाये बैठा था।"

पण्डितजीने अन्यमनस्क होकर जवाब दिया, "कह नहीं सकता लालाजी भूल गया होऊँगा! अब वह पहले-सी याददाश्त नहीं रही।" फिर हाथ जोड़कर आगे बढ़ गये।

जब लौटे तो दालकी छौंकसे सारा घर महक रहा था। माईंने स्वादिष्ट भोजन तैयार किया था। पण्डितजी भूखसे कुछ ज्यादा ही खा गये। फिर तृप्तिपूर्वक डकार लेते हुए कचहरीके लिए तैयार हुए। घरमें ताला बन्द करनेका खयाल आते ही हल्की-सी मुसकान उनके होठोंपर झलक आयी। चलते समय माईं बोलीं, "ज़रा समयसे आ जाना बेटा, बाज़ारसे कुछ सामान मँगवाना है।"

आज नित्यके समयसे कुछ जल्दी ही कचहरी पहुँच गये थे। बस्ता खोलकर तख़्तपर बैठके सोचने लगे कि इस साल बरसातमें टीनकी छत और तख़्त सुधरवाये बग़ैर काम नहीं चलेगा। घरकी भी मरम्मत करवानी पड़ेगी। बाँकेलालसे उधारके रुपये वसूल हो जायें तो यह चिन्ता मिटे।

आते ही बाँकेलालने खबर सुनायी, "महराज, अन्नका भारी अकाल पड़ा है। जनता बेहाल हुई जा रही है।"

पण्डितजी गले तक भोजन करके आये थे। दालका स्वाद अब भी ज़बानसे उतरा न था। बोले, "तुम भी अच्छी बेपरकी उड़ाते हो। हमने तो अखबारमें ऐसी कोई ख़बर नहीं देखी।"

बाँकेलालने तुरत जवाब दिया, "महराज, आप सरकारी परचा पढ़ते होंगे। उसमें सारी खबरें दाब दी जाती हैं। आज शामको आम-सभा हुई रही है, आके सुनो तो कुछ पता लगे आपको।"

पण्डितजीने बाँकेलालकी बात नहीं काटी, न अपने रुपयोंका तगादा ही किया।

धीरे-धीरे दोपहर चढ़ आयी। धूल, धूप और लू। गरमीकी दोपहर सारी जगहोंको अपने-जैसी सुस्त, बोझीली और उदास बना लेती है। लेकिन चोरी-सीनाज़ोरी और झगड़ा-फ़साद मिटाने और निबटानेके नाम पर जो कुछ भी कचहरियोंमें होता होगा उसकी गतिमें तनिक भी अन्तर नहीं आता। अदालतोंकी पुकारोंमें बेगानापन और मुन्शियोंकी जोड़-तोड़में अपनापन उस समय भी वैसा ही रहता है, बल्कि शायद कुछ बढ़ जाता हो, क्योंकि उस चुप्पीके बीच लोगोंका अपने-अपने धन्धोंमें मनोयोग और भी मुखरित हो उठता है। नीमके तले तमाखू पीते हुए ग्रामीण, मुवक्किलोंसे हुज्जत करते हुए वकील, पुरानी मशीनोंपर रजिस्ट्रियाँ और अर्ज़ियाँ टाइप करते हुए बाबू, जूठे पत्तोंके बीच थाल सजाये हुए खोंचे वाले, कमरोंके बाहर बेंचोंपर ऊंघते हुए चपरासी—ये सब मानो कचहरी में दोपहरकी सजगताके प्रतीक हैं।

वॉटरमार्क और रसीदी टिकट लेनेके लिए बाँकेलाल चिलचिलाती धूप में पसीनेसे नहाये हुए जब पण्डितजीके तख्तपर पहुँचे तो पण्डितजी औंघाते मिले। नींदके झोंकोंमें झूम रहे थे। बैठे-बैठे एक ओरको झुकते चले जाते और फिर झटकेके साथ सीधे हो जाते थे। हर बार ऐसा जान पड़ता कि अबकी ज़रूर लुढ़क जायेंगे, लेकिन बार-बार सँभल जाते थे। कुछ देर यह दृश्य देखते रहनेके बाद बाँकेलालने उनका कन्धा हिलाकर चैतन्य किया और बोले, "महराज, रातमें नींद नहीं पड़ी सायद ?"

हड़बड़ाकर आँखें मलते हुए पण्डितजीने कहा, "नहीं बाँकेलाल, ज़रा यों ही अलसा गया था।"

बाँकेलालने कहा, "अब आप अलसाओगे तो हो चुका महराज ! इत्ती उमर कचहरीमें बीत गयी, आपको कभी यहाँ औंघाते नहीं देखा। ज़रूर आज कोई खास बात है।"

पण्डितजी चुप रहे, कुछ जवाब नहीं दिया उन्होंने। खयाल आया कि देखो सुबह लाला रामभरोसे भजनके लिए शिकायत कर रहे थे, इस समय बाँकेलाल कह रहे हैं....इतनी उमर कचहरीमें बीत गयी....

पण्डितजीको यह कुछ अच्छा नहीं मालूम हुआ। सब ग़लती माईंकी जान पड़ी। सुबह-सुबह कुएँसे पानी भर लानेको किसने कहा था उनसे ? आधी रातसे राम-नाम भजने बैठ गयीं ! उन्हींके कारण सारे कार्य-क्रममें व्याघात पड़ा। सुबह होते ही खाने-पकानेका खटराग करने लगीं !

पण्डितजीको लगा कि झंझटमें फँस गये हैं। सोचने लगे कि माईंको वापस क्यों न भेज दें ? कह देंगे, यहाँ तुम्हारा गुज़ारा होगा नहीं माईं, न हो तो अपने भाई-भौजाईके पास चली जाओ। मुझसे जो बन पड़ेगा, हर महीने भेजता रहूँगा।....

पण्डितजी खयालोंमें डूब गये। फिर खयाल धुँधले पड़ने लगे, सिर्फ़ डूबते रहे—माथे, कनपटी और सीनेपर बिछलती हुई पसीनेकी धारोंमें और हवाकी मन्द-मन्द थपकियोंमें। खयाल मिटते गये और नींदके झकोरे

फिर तेज़ पड़ने लगे। प्रायः अनजानमें ही पण्डितजीने अपने बस्तेको तख्त के एक किनारे खिसकाया और उसपर सर रखकर लेट गये। फिर उनके खर्राटे वातावरणकी एकरसता अपनी नियमित लयसे धीरे-धीरे भंग करते हुए भी उसीका अविभाज्य अंग बन गये।

कम नहीं है

हम कब इनकार करते हैं। हम तो मानते हैं कि नैस्टर्शियम और लिली और डेलियाके फूल देखनेके लिए बेचैन हमारी निगाहें सारी गरमी-भर क्यारी-क्यारीपर भटकती रहीं और निराश होकर लौट आयी हैं। अभी दो दिन पहले तक कैसा दुःखदायी मौसम था, अब दो दिनसे आसमानपर बादल छाने लगे हैं, और थोड़ा-बहुत पानी बरसा है। उसके बाद आसमान साफ़ हुआ है, धूप चटखी है, और उसके बाद—फिर बादल घिरे हैं, उद्धत हवाओंमें विनम्रता आयी है, बूँदें टप-टप टपकी हैं, सड़कोंपर चलते हुए लोग थोड़ा-बहुत भीगे हैं, और फिर कुछ नमी, कुछ उमस, कुछ ठण्डक हुई है। पर इतनेसे किसे सन्तोष होगा ? अभी कहाँ स्वीट पी, कहाँ नैस्टर्शियम और कहाँ लिली !

बस, घास है जो इतनी कुचली गयी है मगर बरखाकी चार बूँदें पाते ही निहाल हो उठी है। और : क्यारियाँ हैं। और : कँटीले तारोंपर चढ़ी हुई जंगली लताएँ हैं। झाड़ हैं। और····और····सुनिए—मेंहदी है जो फूली हुई है। गहरे हरे रंगकी पत्तियाँ और हलके हरे, लगभग सफ़ेद, फूल ! गुच्छेके-गुच्छे मेंहदीके फूल हैं। और हम कभी अकेले-दुकेलेमें, सुबह-दोपहर या रात-बिरात, मेंहदीके झाड़के नज़दीकसे गुज़रते हैं तो भीनी-भीनी सुगन्ध लिपट जाती है और बाँहें फैलाकर हमें घेर लेती है। क्या करें हम उस समय ? छूटें तो छूट नहीं सकते। बँधें तो बँधे रह नहीं सकते ! हम बतायें आपको ?—हम उस समय याद करते हैं नैस्टर्शियमकी, डेलियाकी और पॉपीकी। आँखें मूँदकर हम रंगोंके सागरमें डूब जाते हैं। लाल, नीले, पीले, बैंगनी : अनगिनत रंगोंवाले अनगिनत फूल। क्यारियों में उगे हुए चटखीले-चमकीले फूलोंके रंग-बिरंगे सागरमें हम अपनेको छोड़

देते हैं !

पर सुगन्धकी लहर आकर हमें फिरसे थपथपाती है और हम आँख खोलकर देखते हैं कि फीके और धुले-धुले फूलोंका एक गुच्छा हमारी हथेलीमें है और अपनी महकसे क्या हमें और क्या सारे आस-पासको भरे दे रहा है।

रंगोंका सागर : नैस्टर्शियम ! और सुगन्धिकी लहर : मेंहदीका फूल ! नैस्टर्शियम—जिसे देखनेके लिए आँखें व्याकुल हैं; और मेंहदीके फूलोंका गुच्छा—जो हाथमें है और महक-महककर मनको व्याकुल किये दे रहा है।

"ओ रे मेरे मन, सुन !····" लेकिन मन सुने कैसे ! क्योंकि "मॉनसून, मॉनसून !" चिल्लाता हुआ लड़का तबतक चिल्लाया करेगा जबतक आप उससे अखबार खरीद न लेंगे। 'मॉनसून टूट पड़े हैं', 'मेघ फूट बहे हैं', 'पानी गिर रहा है'—इस टूटती-फूटती, गिरती-पड़ती दुनियाने वर्षाके लिए भी अपनी ही जैसी अभिव्यक्तियाँ चुनी हैं। तो चुने ! हमें तो मेघको देखकर नाचनेवाले मोरकी सुधि आती है, और चारों दिशाओंमें शोभित होती हुई दादुर-धुनिकी भी। वर्षाकालमें नभपर छाये मेघ गरजते हैं तो हमें अत्यन्त सुहाने लगते हैं।····

पर : आँख उठाते हैं तो सामने एक बिलकुल दूसरी दुनिया है। भागते लोग और भीगती आकृतियाँ अभी यहाँ और अभी वहाँ दिखायी देती हैं ; साइकिलोंकी टुनटुनाती घण्टियाँ और मोटरोंके चीखते हुए हार्न अभी यहाँ और अभी दूर वहाँ सुनायी पड़ते हैं ! कितनी हलचल है और कैसी भगदड़ ! वर्षासे लोग कितना बचते, घबराते और भागते हैं !

····वहाँ : ऋष्यमूक पर्वतकी एक अत्यन्त शुभ और शोभावान् स्फटिक-शिलापर दो भाई, राम और लक्ष्मण, सुखपूर्वक आसीन हैं। न भागते हैं, न बचते हैं। बूँदोंके आघात उन्हें विचलित नहीं करते। मेघ झरझर बरसते हैं और वे स्फटिक-शिलापर बैठे हुए निरन्तर भीग रहे हैं। कोई व्याकुलता होगी तभी तो ! बिना व्याकुलताके कौन भीगता है। और जब

व्याकुलता होती है तो आँधी-पानी न केवल वनके तरु-पातोंको, बल्कि मानवकी छातीको भी झकझोर देते हैं, अन्तर जर्जर और कातर होकर थर-थर काँपा करता है, आहें भरता है और यह निःश्वास फूट निकलता है कि "भगवान् न करे किसीको वर्षामें बिलगना पड़े !"

यों बिलगाना और मिलाना भगवान्के वशमें नहीं है। वे अवश्य उसके वशमें हैं और पर्वतकी एकान्त स्फटिक-शिलापर बैठे हुए उनको भी अपनी व्यथाको सहना ही नहीं, कहना भी पड़ा है कि नभमें घमण्ड-भरे घन घोर रवमें गरजते हैं और उनका प्रियाहीन मन डर रहा है।

"प्रियाहीन डरपत मन मोरा"....हमारी पलकें गीली हो आयी हैं और उनमें दो बूँदें अटक गयी हैं। हम मुसकराते हैं कि ये बूँदें भटककर कैसी ग़लत जगह आ गयीं। हमारी पलकोंमें इनका क्या काम था ? हम न तो किसीसे बिलगाये गये हैं, न किसीसे मिलनेके लिए आतुर हैं ! फिर ये बूँदें हमारी पलकोंमें कहाँसे आ गयीं और क्यों आ गयीं ?

बूँदें केवल हमारी पलकोंमें नहीं, सर्वत्र अटकी हुई हैं। घासके तिनकों पर, पेड़ोंकी पत्तियोंपर, बिजलीके तारोंपर, और हमारी उँगलियोंमें टिके मेंहदीके फूलोंपर। उधर, पेड़के नीचे दो बच्चे हाथमें-हाथ डाले खड़े हैं। उनके बालोंकी लटोंमें भी अटकी हुई बूँदें चमक रही हैं। और, टोकरी सरपर रखे, ऊँचे स्वरमें गाता हुआ जो मज़दूर अभी-अभी आँखोंसे ओझल हुआ है, शायद यही गा रहा था कि "भीजत होइहैं राम-लखन दोउ भाई ! बनमें....भीजत होइहैं...."

पेड़के नीचे खड़े दो बालक भीग रहे हैं और जहाँतक निगाह जाती है, सब-कुछ भीगता नज़र आता है। पानी भरे हुए भारी बादलोंसे आसमान डूबा हुआ है। धुँधला-धुँधला आकाश है और सब तरफ़ कुहरा जैसा घिरा है। सड़कका अगला चौराहा और उस पारकी इमारतें बूँदोंके कुहरेमें ढक गयी हैं। वर्षाके अनवरत गिरनेका स्थिर स्वर है और हवाके तेज़ झोंकोंमें छरछराती हुई बारिशकी झड़ी। दोनों लड़के थर-थर काँपते

हैं और बिजलीके तारोंपर सरकते हुए जलकण चुप-चुप नीचे गिर रहे हैं। मेंहदीके फूलोंका गुच्छा पानीसे बिलकुल नहा गया है।

मानो इसीकी प्रतीक्षा थी कि फूलोंका गुच्छा धुलकर निखर आये। अशोक वृक्षके नीचे खड़े बच्चे भीगकर थर-थर काँपने लगें—मानो इसीकी प्रतीक्षा थी।···

और, बारिश बन्द हो गयी है। न जाने कहाँ-कहाँसे निकलकर लोग बाग फिर सड़कोंपर भाग-दौड़ करने लगे हैं। सबको जल्दी है और यह डर भी कि बीच रास्तेमें बरसात कहीं फिर न पकड़ ले!

मगर दोनों बच्चे अशोककी डालें हिलानेका खेल खेलनेमें लगे हैं। एक किसी डालके नीचे जा खड़ा होता है और दूसरा डालको झकझोर देता है। पत्तियों-टहनियोंमें उलझा हुआ ढेर-सारा पानी झरझराकर नीचे गिर पड़ता है। दोनों बच्चे कितने खुश हैं और अब,—घासके मैदानमें बनी पगडण्डीपर जमा हो गये पानीमें पैर छपछपाते हुए चले जा रहे हैं।

कुहरा साफ़ हो गया है। सड़कका अगला चौराहा और उसके पारकी इमारतें और उसके भी आगेकी सड़क साफ़ दिखायी देने लगी है। हर चीज़ धुली और हर बात खुली-सी जान पड़ती है। ऋष्यमूक पर्वतकी स्फटिक-शिला और भी शीतल-स्वच्छ हो गयी होगी। दोनों भाई राम-लक्ष्मण उठकर अपनी शैल-कन्दरामें गये होंगे।

मेघ आकाशसे चले गये और बच्चे अशोक वृक्षके नीचेसे। इधर-उधर ओटमें खड़े, बारिश थमनेका इन्तज़ार करनेवाले राहगीर जा चुके और हम अभी जहाँके-तहाँ खड़े हैं—मेंहदीके फूलोंकी सुगन्धमें बँधे हुए इन्द्रधनुषी रंगोंके सागरमें डूबे हुए। सतरंगा धनुष उगा तो है आकाश-पर, लेकिन उसके सारे रंग बिखरे पड़े हैं धरतीपर। ढेरका-ढेर कनेर फूला है और कँटीले तनोंपर फैली लतामें इतने चमकीले नीले फूल उलझे हुए हैं कि ऐसा नीला न तो समुद्र होगा और न आकाश ही।

क्यारियाँ पानीसे भर गयी हैं और क्यारियोंमें उगे पौधे फूलोंसे।

पैरोंके नीचे कुचली जानेवाली घाससे लेकर आसमानसे बातें करनेवाले पेड़ों तक सारी वनस्पतियाँ लहलहा उठी हैं और बचपनमें पढ़ी दो पंक्तियाँ हमें आज भी याद हैं—

"ये दो दिनमें क्या माजरा हो गया।
कि जंगलका-जंगल हरा हो गया।"

सचमुच ही दो दिन ! अरे केवल दो दिन, जिन्होंने हर चीज़की शक्ल बदल दी है !

और हम हैं, जो जहाँके-तहाँ खड़े हैं। सुगन्धमें बँधे और रंगोंमें डूबे हुए। हमने कोई गति नहीं जानी और हमने बूँदोंके आघात भले ही सहे हों, पर वे ठोकरें नहीं खायीं जो हमें राहपर लगा सकती थीं। "राहपे आता है इन्साँ ठोकरें खानेके बाद !" और जब हमने ठोकरें खायीं ही नहीं तो फलकी आशा करना व्यर्थ है—यह क्या हम जानते नहीं।....

पानी थम चुका है और राहोंपर थमा पानी अभी वहाँ नहीं है, और हमारी राह हमें मिलनी ही नहीं है, इसलिए हम जहाँके-तहाँ खड़े देख रहे हैं कि घूमनेके लिए निकली तीन-चार लड़कियोंने आकर मेंहदीके झाड़को घेर लिया है और पत्तियाँ तोड़-तोड़कर अपने आँचलों और दुपट्टोंमें भर रही हैं। कैसी खुश हैं ये लड़कियाँ कि जाकर मेंहदी पीसेंगी और हथेलियों में रचायेंगी।

मालूम तो हमें भी था कि हिना पत्थरपर पिसनेके बाद ही रंग लाती है, लेकिन पिसकर रंग लाते या ठोकरें खाकर राहपर आ पाते, ऐसा हमसे हो नहीं सका।

हुआ यह कि जहाँके-तहाँ खड़े देख रहे हैं कि हँसती-मचलती लड़कियाँ मेंहदीकी पत्तियोंसे आँचल और दुपट्टे भरे जा रही हैं। डेलिया और नैस्टर्शियम नहीं खिले और हमें राह नहीं मिली तो क्या हुआ ! अच्छा लग रहा है, बल्कि बहुत अच्छा लग रहा है और सच मानिए कि 'इतना भी यहाँपर कम नहीं है।'

मर्मस्पर्शी कविताएँ

बड़ी टूटी-फूटी स्मृतियां हैं। कभी एक चित्र उभरता है, कभी दूसरा दृश्य। कुछ आवाज़ें दूरसे पुकारती हैं, कुछ जैसे बिलकुल मेरे हृदयके स्वर हैं। बरसों पहलेकी एक रात मुझे याद है। बनारसके एक कवि किसी नवयुवकके साथ आये। मेरे कमरेमें बैठकर उन दोनोंने कविताएँ सुनायीं। आज उस नवयुवकका नाम मुझे भूल गया है। उस रातके बाद मैंने उसे कभी नहीं देखा, कभी उसकी कोई कविता नहीं सुनी। लेकिन आठ-नौ साल पहलेकी एक रातमें उसने काँपते हुए वेदनापूर्ण सुरोंमें जो गीत सुनाया था, वह आज भी स्मृत होकर मुझे अकुलाहटसे भर देता है। आज मुझे गीत याद नहीं रहा, गायकका नाम याद नहीं रहा, लय विस्मृत हो गयी; लेकिन शिशु-मनपर अंकित पवित्र भाव क्या कभी भूला जा सकता है! उस गीतकी केवल एक पंक्ति स्मरण है। उसे भी भूलना चाहता हूँ, क्योंकि आज जान गया हूँ कि वह बड़ी साधारण-सी पंक्ति है, लेकिन फिर भी वह भुलाये नहीं भूलती—

सोचता हूँ, जीर्ण जीवनकी यही आधी निशा है।

इस पंक्तिने, इसकी लय और वेदनाने मुझे कवितामात्रकी ओर उन्मुख कर दिया। जो कविता कभी पढ़ता न था, कविता लिखने लगा।

सन् छियालीस-सैंतालीसमें मैंने शम्भूनाथकी कविताएँ पसन्द कीं। उनके एक गीतको उन्हीं जैसा गा सकनेका असफल प्रयास मैंने बहुत दिनों तक किया है—

भर गया सजल घनसे नभका सूना आँगन,
सूने नयनोंमें उमड़ पड़े दो भरे नयन,
काली काली बरखाकी साँझ उमड़ आयी,

सन्देश वहन करती-सी आयी पुरवाई,
भूले प्राणोंमें बरस गया सुधिका सावन,
खोये नयनोंमें झलक पड़े दो बड़े नयन ।

को उन दिनों शम्भूनाथ बहुत मस्त होकर गाते थे ।

सच कहूँ, शुरू-शुरूमें कविता मेरे लिए एक आध्यात्मिक अनुभूति थी । यह अनुभव मुझे तभी होता था "जब ललित कण्ठसे गायी हुई कविता सुनता था । मधुर कण्ठ किसे अभिभूत नहीं कर लेता ! इस प्रभावसे, किन्तु मैं शीघ्र ही मुक्त हो गया । पढ़कर, स्वयं पढ़कर जिन कवियोंको मैंने सबसे पहले पसन्द किया वे थे भगवतीचरण और 'बच्चन' । 'प्रेम संगीत' और 'मानव'की बहुत-सी कविताएँ मैंने अपने पास लिख रखी थीं । लिखी हुई कॉपियाँ खो गयी हैं, किन्तु कविताएँ ? वे तो अब भी मेरे पास हैं—

कल सहसा यह सन्देश मिला सूने-से युगके बाद मुझे
कुछ रोकर कुछ क्रोधित होकर तुम कर लेती हो याद मुझे
मैं तो अपनेको भूल रहा, तुम कर लेती हो याद मुझे
अब असह बन गया देवि, तुम्हारी अनुकम्पा का भार मुझे

और

हाँ प्रेम किया है, प्रेम किया है मैंने
वरदान समझ अभिशाप लिया है मैंने

इतना ही नहीं

प्रिय, कितना व्यापक अन्तरिक्ष, ये मेरे कितने शिथिल गान
गत जीवनकी सीमाओंसे मैं घिरा हुआ हूँ सोच रहा
कितना नीचा मेरा मस्तक, कितना ऊँचा है आसमान

मेरे मनमें एक स्मृति उभरती है । स्मृति नहीं, कण्ठ । आपको कैसे सुना दूँ वह स्वर ! ज़माना कितना बदल गया है । पहलेके लोगोंमें अब पहले जैसा दर्द नहीं रहा । मुझमें तबकी-सी संवेदना नहीं । काफ़ी रात बीते तक घरके कामोंमें व्यस्त रहनेवाली मेरी माँ अपना एक गीत गाया

करती थीं :

चले जा रहे होंगे तुम ओ, दूर देशके वासी
चली रात भी, चले मेघ भी, चलनेके अभ्यासी।
भरा असाढ़, घटाएँ काली नभमें लटकी होंगी,
चले जा रहे होंगे तुम, कुछ स्मृतियाँ अटकी होंगी,
छोड़ उसाँस बैठ गाड़ीमें दूर निहारा होगा
जब कि किसी अनजान दिशाने तुम्हें पुकारा होगा।
हहराती गाड़ीके डब्बेमें, बिजलीके नीचे
खोल पृष्ठ पोथीके तुमने होंगे निज दृग मींचे।
सर सर सर पुरवैया लहकी, होगी सुधि मँड़रायी,
तभी बादलोंने छींटे दे होगी तपन बढ़ायी।
चले जा रहे होंगे तुम ओ···

और मुझे लगता है कि तार न जाने कब छुए गये थे, झनकार अब भी शेष है।

लेकिन, मैं तो पढ़ी हुई कविताओंकी चर्चा कर रहा था। 'बच्चन'का एक गीत कभी पढ़िए :

दिन जल्दी-जल्दी ढलता है

मन उदास हो जायेगा। दिनके जल्दी-जल्दी ढलनेकी विवशता जैसे हमीं पर छा जाती है। लेकिन दिनके साथ ढले हुए दिलको एक आसरा दीखता है :

है अँधेरी रात, पर दीया जलाना कब मना है?

और इतना ही नहीं,

जो बीत गयी, सो बात गयी।
जीवनमें एक सितारा था
माना वह बेहद प्यारा था
वह टूट गया तो टूट गया

अम्बरके आननको देखो
कितने इसके तारे टूटे
कितने इसके प्यारे छूटे
जो छूट गये फिर कहाँ मिले
पर बोलो, टूटे तारोंपर
कब अम्बर शोक मनाता है।
जो बीत गयी सो बात गयी।

यह तर्क जैसे मनपर छायी हुई वेदनाको कुछ और बढ़ा देता है। कवि के मर्मका यह चित्र मेरी आँखोंके सामने बार-बार आता है। पीड़ासे छटपटाता हुआ वह इस पीड़ाको भूल जानेके लिए अन्यान्य वस्तुओंमें अपनेको रमाना चाहता है। क्या जाने कविने शायद उस पीड़ाको बिसरा दिया हो, लेकिन उसका प्रत्यक्ष-जैसा अनुभव करनेवाले पाठकके जीवनका तो वह सहज अंग बन गयी है।

खैर, इसे जाने दूँ। यह सब तो अब सपना बनता जा रहा है। भावनाओंके पवित्र तटसे दिनोंदिन दूर हटता जा रहा हूँ, लहरोंका संगीत अब पहलेकी तरह नहीं सुनायी पड़ता। हृदयस्पर्शी कविताएँ आज हृदयस्पर्श नहीं करतीं। हृदयस्पर्शी कविताएँ आज खोखली जान पड़ती हैं। वयःसन्धिके दिवास्वप्नोंमें बनाये गये काल्पनिक महल जिस तरह ध्वस्त हो जायें, उसी प्रकार पहलेका जाना-सोचा और समझा हुआ बहुत-कुछ आज मनमें टूटता-फूटता-सा दीखता है। सबके जीवनमें ये दिन आते हैं, मैं जानता हूँ; क्योंकि इस तरहका अन्तर्द्वन्द्व पहले भी कई बार मुझे मथ चुका है।

सोचनेकी बात है कि हम कितनी जल्दी बदलते हैं। चीज़ोंकी शक्लें बदलकर बिलकुल दूसरी हो जाती हैं। आज जो पसन्द है, कल उसीका रंग उतर जाता है; आज जो प्रिय है, कल उसका जादू खो जाता है। फिर भी कुछ बातें अवश्य ऐसी होती होंगी, जो पत्थरकी लकीर बनकर दिलपर

नष्ट हो जाती हों। यह न होता, तो क्यों गिरिजाकुमारकी प्रारम्भिक कविताएँ आज भी मुझे स्पर्श करतीं—

नदी किनारे गाँव हमारा
आधी रात नाव ले आना।
पतला-पतला चाँद खिला हो,
दूर कहीं ज्यों दीप जला हो,
पास एक सूना झुरमुट है
जल्दीमें तुम भूल न जाना।

'नदी किनारे गाँव हमारा··· क्यों न भूल गयी होती! पानी-भरे हुए भारी बादलसे डूबा आसमान है!··· म्लान दीया-बातीकी बेला··· आज हैं केसर रंग रंगे वन।'

इन सभी पंक्तियोंने मुझे छुआ है। ये मुझे छूकर ही नहीं रह गयी हैं, इन्होंने मेरे मनको कसकर बाँधा भी है। इन कविताओंने मुझे, एक ज़माना था, व्याकुल बनाया है; और आज भी उन दिनोंकी ओर उन कविताओंकी याद हो आनेपर मैं बेचैन हो उठता हूँ, जैसा कि उस समय भी हो गया था।

यूँ ही एक पंक्ति, कई साल पहले, मेरे भीतर उतर गयी :

सृजनकी थकन भूल जा देवता!
अभी तो पड़ी है धरा अधबनी?

इसके बाद तो मैं लगातार बेचैन रहा। ज़िन्दगी उस तार-जैसी बन गयी जिसे हर नन्हेंसे-नन्हा स्पर्श भी जगमगा और झनझना देता था। कभी कुछ हो जाता, कभी कुछ। इन्हीं दिनों जबलपुर जाना हुआ। वहाँ एक व्यक्तिने यों हँस-हँसकर कविताएँ सुनायीं कि सुननेवाले दंग रह गये। मैं मोहित होकर इलाहाबाद लौटा और इसके दो साल बाद जब एक दिन 'प्रतीक' में गीत फ़रोश कविता छपी तो सब लोग जैसे स्तब्ध हो गये।

मैं गीत बेचता हूँ, जी हाँ हज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ।

इस एक कविताने समूची हिन्दी कविताको नयी धारापर प्रकाश डाला। नयी कविताको जो प्रवृत्तियाँ अभी तक ज़ाहिर नहीं हुई थीं वे खुलकर सामने आ गयीं। भवानीप्रसाद मिश्रने अपने इस प्रतिनिधि स्वरूप को उस समय और भी प्रकट किया जब उनकी छोटी-बड़ी अनेक कविताएँ प्रकाशित हुईं। खरे सिक्कोंकी तरह वे काव्य-प्रेमियोंके बीच व्याप गयीं :

"दर्द जब घिरे, बहाना करो।
न ना ना नाना ना ना करो।
दर्द जो दिलसे बाहर हो
तो दुनिया-भर पे ज़ाहिर हो।
दर्द ज़ाहिर करना बेकार
हमारा यह नुस्ख़ा है यार
दर्दको दरी बनाओ, हाँ,
नहीं उसका सिरहाना करो।..."

आदि उनकी पंक्तियोंने मुझे बराबर स्पन्दित और अभिभूत किया है। असल में भवानीप्रसाद मिश्रने ज़िन्दगीके ढंगको कविता बनाकर सामने रखा, इसीलिए वे मुझे भा गये।

अपने प्रिय विषयोंकी चर्चा करते हुए समयका ध्यान किसे रहता है? किसीको नहीं रहता। फिर इन कविताओंकी बातचीत करनेमें अगर कहीं बहक गया होऊँ तो मेरा क्या दोष? आप जैसे रसिक श्रोता मिलते भी कहाँ हैं! तो, मेरे रोम-रोममें बसी हुई एक गीतकी कुछ पंक्तियाँ और सुनिए। जब मैंने इस गीतको कविके मुखसे इलाहाबादके युनिवर्सिटी कॉफ़ेमें बैठकर पहली बार सुना तो मेरे एक प्यारे दोस्त भी साथ थे। ये दोस्त न होते तो कविताएँ सुनने और सुनते-सुनते तन्मय हो जाने या ऊब जानेके जितने मौक़े मेरी ज़िन्दगीमें आये हैं, शायद उसके आधे बल्कि चौथाई भी न आते। बहरहाल, उस दिन गिरिधरने बहुत-से गीत सुनाये थे। मेरे पास आज दिन एक-दो ही रह गये हैं।

प्यासा रहा जाता नहीं अब बादलोंकी छाँहमें ।

और—

मुक्तिके विहंग क्यों उदास तुम ?
एक पंखमें समेट लो अवनि
एक पंखमें समेट लो गगन
दूर तुम समझ रहे जिसे बहुत
दूर है न स्वप्नसिद्धिका सदन
स्वर्गकी अनन्त कामना लिये
लो, तुम्हें दिशा दिशा पुकारती
एक ही उड़ान और शेष है
मुक्तिके विहंग क्यों उदास तुम ?

उन्हीं दिनोंकी बात है कि मुझे एक दूसरी कविता भी बहुत पसन्द आने लगी । युनिवर्सिटी जाते समय, चाय पीते वक़्त, दोस्तोंसे बातें करते, नहाते-धोते, अकेले-दुकेले हर समय मेरे होठोंपर या तो मुक्तिके विहंग वाली पंक्ति रहती या फिर—

जीवन है आकाश, सजनि, यह जीवन है आकाश ।
मैं भाव विहग, तुम राग खगी, यह जीवन है आकाश ।

यों, दूसरोंकी बात मैं जानता नहीं—जानता भी होऊँ तो बहुत ज़ोर देकर कहनेका अधिकार मुझे नहीं है—अपनी बताता हूँ, ज़बानपर चढ़ गयी और दिलमें समा गयी । कविताओंने अकसर मुझे बड़े संकटसे उबारा है । जब-जब दुःखका सागर मुझपर उमड़ा है और मैं असहाय होकर छटपटाया हूँ, इन कविताओंने मेरे होठोंपर उभरकर मुझे सान्त्वना दी है । ऐसे क्षणोंमें मैंने अनुभव किया है कि ये कविताएँ मेरी अपनी हो गयी हैं, क्योंकि इनमें मेरी अपनी वेदनाने अभिव्यक्ति पायी है, मेरी निजी पीड़ा इनमें झलक सकी है । ऐसे क्षणोंमें इन बहुतेरी कविताओंको मैंने बहुतेरे अर्थ दिये हैं, इन्हें तरह-तरहसे समझा है ।

और, दूसरी ओर इन कविताओंने मुझमें अजब भाव भरे हैं, अनुभूतियों के वे जादूके द्वार मेरे सम्मुख खोले हैं जिनसे मैं शायद अपरिचित ही रह जाता यदि मैं इन सबके सम्पर्कमें न आता। बहुत-सी कविताएँ, बहुत-से मधुर स्वर, अनगिनत काव्य-पंक्तियाँ जब-तब मेरी चेतनाको समृद्ध करती रही हैं। उन सबका लेखा-जोखा क्या कभी सम्भव है ?

हाँ, दो-एक चित्र आज भी बड़े स्पष्ट हैं। यह बात दूसरी है कि उन्हें याद करके व्याकुलता बहुत बढ़ जाती है। लेकिन, खैर, इसको क्या किया जाये ! तीन व्यक्ति हैं, साइकिलोंपर पैड्ल मारते हुए, काफ़ी रात गये, कभी जमुना ब्रिज, कभी सिविल लाइनसे लौटतेमें गा रहे हैं :

छिटक रही है चाँदनी,
मदमाती उन्मादिनी,
कलगी और सजाव ले
कास हुए हैं बावले,
पकी ज्वारसे निकल शशोंकी जोड़ी गयी फलाँगती।
सन्नाटेमें बाँक नदीकी जगी चमककर झाँकती।
कुहरा झीना और महीन,
झर-झर पड़े अकास नीम,
उजली लालिम मालती
गन्धके डोरे डालती
मनमें दुबकी है हुलास ज्यों परछाईं हो चोरकी
तेरी बाट अगोरते ये आँखें हुईं चकोर की।

यों ही, जुलाई-अगस्त या नवम्बर-दिसम्बर या सालके किन्हीं भी दूसरे दिनोंमें, हॉस्टेलके कमरेमें, सुबह-शाम स्टोवपर चायका पानी गरम हो रहा है। बहुत-से लोग हैं, बहसें करते हैं, झगड़ते हैं, मनमें मैल ले आते हैं, फिर साथ-साथ चाय पीते हैं, हँसते-बोलते और बातें करते हैं। बार-बार पंक्तियाँ याद की जाती हैं, दुहरायी जाती हैं :

बहुत दिनों बाद खुला आसमान ।
निकली है धूप, हुआ ख़ुश जहान ।
दिखीं दिशाएँ, झलके पेड़
चरनेको चले ढोर, गाय, भैंसे, भेड़,
खेलने लगे लड़के छेड़-छेड़
लड़कियाँ घरोंको कर भासमान ।
लोग गाँव-गाँवको चले
कोई बाज़ार, कोई बरगदके पेड़ तले
जाँघिया, लँगोटा ले सँभले
तगड़े-तगड़े सीधे नौजवान ।
पनघटमें बड़ी भीड़ हो रही,
नहीं ख़्याल आज कि भीगेगी चूनरी,
बातें करती हैं वे सब खड़ीं;
चलते हैं नयनोंके सधे बान ।
और, और यह क्रम बरसों,
चला किया है, लेकिन अब....

आह, वे दिन क्या सचमुच बीत गये ! अब क्या वे रातें कभी नहीं लौटेंगी, अब क्या कविता सुनकर दिल कभी ज़ोरसे न धड़केगा, कविताएँ पढ़कर तकियेके ग़िलाफ़ आँसुओंसे अब क्या कभी तर न होंगे ? कौन-कौन उत्तर देगा इन प्रश्नोंका ? ओ मेरे पहलेके स्पर्श-संवेद्य हृदय, बोलो कुछ तो कहो ! क्या अब केवल इतना ही शेष रह गया कि :

तटपर रखकर शंख सीपियाँ चला गया हो ज्वार हमारा
मनपर मुद्रित छोड़ गया हो सुखके चिह्न, विकार हमारा ।

पाठकोंकी अदालतमें

जी, मैं हाज़िर हूँ। मुझे गीतकार कहते हैं। वह मैं ही हूँ जिसे प्राचीन कालमें परिभू, स्वयम्भू आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया गया था और वह मेरी ही रचना है जिसके द्वारा प्राप्त आनन्दको ब्रह्मानन्दसहोदर बताया जाता है। मेरे ही विषयमें प्रसिद्ध रहा है कि जहाँ रवि भी नहीं झाँक सकता, वहाँ मेरी छवि पहुँचती है। पाषाण भी मेरे आवाहनसे विगलित हो उठते हैं, जड़-चेतन सभी एक नूतन ध्वन्यालोकसे भर जाते हैं और मैं जब मुखर होता हूँ तो सृष्टि दम साध लेती है।

किन्तु, मेरा वह सारा यश आज मानो अपयशमें परिवर्तित हो गया है! मुझे यहाँ आपकी अदालतमें ला खड़ा किया गया है। मैं, जो केवल सुनानेका अभ्यासी था, आज कितना-कुछ सुननेके लिए मजबूर हुआ हूँ। कितनी अजीब बातें! कैसा अन्याय! कहा गया कि मैं तुक्कड़ हूँ। हँसी उड़ायी गयी कि मैं गीत-शीत लिखता हूँ। आरोप लगाया गया कि मैं जीवनकी वास्तविकतासे दूर एक काल्पनिक संसारमें रहता हूँ। पूछा गया कि आखिर मेरे गीतोंका मतलब क्या है। इतना ही नहीं, व्यक्तिगत आक्षेप करनेसे भी आप लोग नहीं चूके। मेरे सुललित केशों, मादक भंगिमाओं और अटपटी वाणीको भी मेरे सुमधुर गीतोंके साथ लपेट लिया गया—आश्चर्य! घोर आश्चर्य कि आधुनिक कहलानेवाले आप लोग इस सामान्य शिष्टाचारको भी न बरत सके!

माना कि आप पाठक हैं। यह भी माना कि आप छपे हुए को—मुद्रित अक्षरको—ही प्रमाण मानते हैं। लेकिन सहसा इस बातपर विश्वास नहीं होता कि आप पाठक-नामधारियोंके जो बड़े-बड़े फाटक-जैसे कान हैं उनमें आपने डाट लगा ली होगी। हज़ारों-लाखोंकी श्रद्धालु-रसप्रेमी जनतामें

शामिल होकर आपने कभी मेरी कण्ठ-माधुरीका आस्वादन चाहे न भी किया हो, इतनी आशा तो मैं कर ही सकता हूँ कि आप कमसे-कम इस समय मेरी बात सुन रहे हैं और यदि सुनकर पढ़नेके अभ्यासी हों तो पढ़ भी रहे हैं।

महाशय! मैं आपका अपमान नहीं करना चाहता, आपकी सत्ताका तिरस्कार भी नहीं करता। केवल इतना निवेदन करना चाहता हूँ कि मैं जनताकी बड़ी अदालतसे छूटकर आया हूँ। मेरे लिए तो वही है सबसे बड़ी शक्ति! अपूर्व सम्मान मिला है मुझे वहाँ! जनताने मुझे हाथों-हाथ लिया है—'वन्स मोर' तथा 'पुनर्वार' की पुकारों, पुष्पहारों, जय-जयकारों तथा स्वागत-सत्कारोंसे मुझे गद्‌गद कर दिया है। काश, आप लोग, आप थोड़े-से मुट्ठी-भर लोग, ऐसे असंख्य अवसरोंमें-से एकपर भी उपस्थित होते! तब कदाचित् आज आप मुझे यहाँ—अपने बीच बुलानेका साहस....क्षमा कीजिए....कष्ट न करते! और काश, आपकी ओरसे मुझ गीतकारपर अभियोग लगानेवाला वह नवीन चेतनाका प्रतिनिधि, शैली-शिल्पका व्याख्याता, वह नयी पीढ़ीका तथाकथित कवि वहाँ मौजूद होता! सच कहता हूँ: उसपर वहाँ ऐसी वेभावकी पड़ती कि आज मेरे मृदु-मृदु भावोंका उपहास करनेके लिए वह काव्य-जगत्‌में बचा न होता।

पाठकगण! मुझे तुक्कड़ बताकर जो लोग कवि होनेका मौलिक अधिकार मुझसे छीनकर स्वयं हथियाना चाहते हैं उनसे मैं स्पष्ट शब्दोंमें कहना चाहूँगा कि वे तो तुक भी नहीं जोड़ सकते। काव्य एक साधना है। और उन लोगोंमें इस साधनाका नितान्त अभाव है। एक पंक्ति आधे इञ्चकी और दूसरी एक फुटकी लिखते हैं और जीवनकी कुण्ठा-कुटिलता तथा कर्दमताको देखते हैं, क्योंकि वे स्वयं भी इन्हींमें ग्रस्त हैं। तुक, छन्द, गति, लय, रूपक, अनुप्रास—सबसे रहित अपने विधुर गद्यको, अपनी असमर्थताको, वे कविता कहनेकी धृष्टता करते हैं।

श्रीमन्! कविता एक कामिनीके समान है और गीत उस कामिनीके

कपोलपर चुम्बन····क्षमा कीजिए····छोटे-से तिलके रूपमें शोभित है। हम गीतकार उसी सुधाका पान करके दीन-दुनियाको भूल जाते हैं। रूप और रसके एक अद्भुत—अपूर्व सागरमें हम डूबते-उतराते रहते हैं। फिर यदि किसी अलौकिक श्रीसे हमारा मुख रंजित हो आये और किसी अज्ञात प्रिय-तमकी प्रतीक्षामें नयन व्याकुल होकर इधर-उधर भटकते रहें तो इसमें हमारा क्या दोष! कृपाकर इसे हमारी साधनाकी सिद्धि ही मानिए।

महोदय! एक अत्यन्त अभद्र रचना हमें सम्बोधित करके लिखी गयी है। उससे मैं इतना क्षुब्ध हूँ कि उसके कुछ अंश आपको फिरसे सुनाये बग़ैर मेरा कष्ट दूर न होगा। मेरी बिरादरीको सम्बोधित करते हुए आपकी बिरादरीवाले कहते हैं:

> तुमको गुमान अपने कवि होनेका,
> अँधियारी दुनियाके रवि होनेका,
> क्या करो—तुम्हारी है यह लाचारी
> जो तुमपर अपना अहं बहुत भारी।
> उसपर तुम भावुक बनते हो इतने,
> नालीके पानीमें बुल्ले जितने,
> कोई छू दे तो टूट बिखर जाओ,
> शबनमकी बूँदों-जैसे झर जाओ।
> हर वक़्त गुनगुनाया ही करते हो,
> कहते हो—जगमें जीवन भरते हो।
> यह दावा भई तुम्हारा झूठा है,
> अब तुमसे भाग्य-सितारा रूठा है···

और इतना ही नहीं, हे सज्जनो! इससे भी अधिक अशोभन और अभद्र बातें मेरे विषयमें कही गयी हैं। मैं बड़ी विरक्तिके साथ उन्हें दोहरा रहा हूँ:

> ओ गीत बेचनेवाले सौदागर,

छूँछी गागरको कहो नहीं सागर ।
अब शुरू करो पंसारीका धन्धा,
आगे बढ़ जाओ, ऊँचा कर कन्धा ।
यह रोज़गार जल्दी चल निकलेगा,
रुपये-पैसोंसे घरको भर देगा,
है गीतोंका बाज़ार बहुत मन्दा,
अब फेंको दूर गलेका यह फन्दा...

श्रीमन् ! एकतरफ़ा डिग्री देनेके इस कौशलपर मुझे घोर आपत्ति है। इस फूहड़ तुकबन्दीका एक पक्ष हम गीतकारोंकी मानहानिसे भी सम्बन्धित है। लेकिन मैं उसकी ओर ध्यान नहीं देता क्योंकि मुझे ज्ञात है कि गीतकारको कभी भी किसी भी प्रकारकी हानि नहीं होती : न मानकी, न दक्षिणा-दानकी, और न ख़ान-पानकी ही। यदि आपकी अशिष्ट शब्दावलीमें हमारी जन्मजात काव्य-प्रतिभाको कोई मतिमूढ़ 'धन्धा' कहना भी चाहे, तो महाराज ! यह बड़े लाभका धन्धा है। चार गीत लिखकर चार-सौ कवि-सम्मेलन फ़तेह करने, संयोजकोंपर सम्राटोंकी भाँति शासन करने, भरपूर पारिश्रमिक वसूल करने, और घातेमें वाह-वाही लूटनेके समान लाभकारी धन्धा और कौन-सा है ! इसलिए, पंसारीकी दूकान तो, पाठकवृन्द आप अपने जजमानोंसे—गद्य-कवितावालोंसे—खुलवाइए। उनकी गाड़ी चलती नहीं है। यह गुरुमन्त्र उन्हींको दीजिए। उनके बड़े काम आयेगा। कहिए कि वे अपनी अनबिकी पोथियोंके पन्ने फाड़-फाड़कर चूरनकी पुड़ियें बनायें। चूरन बेचनेका लटका स्वयं न लिख पायें तो आकर मुझसे लिखा ले जायें। कमसे-कम काग़ज़के दाम तो वसूल हो ही जायेंगे।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि आजके युगमें मिथ्या प्रचार और परस्पर विद्वेषका ही बोलबाला है। मैं सूर, तुलसी, मीराके रसमें भीगा हुआ, जयदेव-विद्यापतिकी माधुरीमें आकण्ठ मग्न, अपनी भावनाओंके जगत्‌में बेसुध ! इस आधुनिक युगमें मैं अपने-आपको बिलकुल अकेला और अपरिचित

पाता हूँ। इसके कुचक्र, इसकी विषमताएँ, इसके दाँव-पेच सभी मेरी सौम्य प्रकृतिके विपरीत हैं। अन्यथा आज मेरे विषयमें आपको····नहीं, नहीं····मेरे ईर्ष्यालु भाई-बन्दोंको इस प्रकार भ्रमजाल रचनेका साहस न पड़ता। आप अपनी आँखोंपर लगा मोटा चश्मा उतार फेंकते, अपने कानों-पर पड़े भारी परदेको फाड़ देते और मेरे संख्यातीत प्रेमियोंकी जमातमें शामिल हो जाते।

लेकिन शायद आप भीड़-भाड़से घबराते हैं। खैर, कोई हर्ज नहीं। मैं तो अपने श्रोता सभी जगह ढूँढ़ लेता हूँ। कोई दूसरा नहीं मिलता तो अपने कमरेकी दीवालोंको ही अपने गीत सुना देता हूँ। मेरे भावोद्गार उन निर्जीव ईंटोंमें भी जीवनका कम्पन भर देते हैं। कुछ-कुछ वैसा ही स्पन्दन मैं इस समय आप महानुभावोंके होठोंपर भी देख रहा हूँ। निश्चय ही आप मेरे वक्तव्यसे प्रभावित हुए हैं। आपने मेरी बातोंमें छिपी सचाईको महसूस किया है। तो लीजिए, लगे हाथों एक गीत भी सुने जाइए। प्रथम पंक्ति है····

लेकिन यह क्या! आप तो उठ खड़े हुए। सुनिए, जाते कहाँ हैं? भागकर जा रहे हैं? किन्तु, जाइएगा कहाँ? यह सचराचर, यह समस्त सृष्टि, यह धरा, यह गगन सभी तो मेरी स्वर-लहरीसे गूँज उठता है। आप कैसे उससे अप्रभावित रह सकेंगे!········आऽ····आऽ····आऽ····सुमुखि!····

छोटा दूकानदार

दूकानदार तो दूकानदार, आप कहेंगे कि उसमें छोटा-बड़ा क्या ? मगर नहीं; असल बात तो कुछ और ही है । हम बतायें : छोटा दूकानदार यानी 'छोटा' दूकानदार और बड़ा दूकानदार यानी 'बड़ा' दूकानदार । अन्तर कुछ स्पष्ट हुआ आपको ? नहीं ! तो लीजिए, एक कहानी सुनाते हैं।

एक लालाजी हमारे दोस्तके घरके पास रहते हैं । उन्होंने क्या किया कि आजसे साल-भर पहले, और कुछ बनाये न बना, तो अपने घरके सामने दो-सेर आलू और एक दर्जन नीबू और बीस-पचीस मिर्चें टूटी-फूटी डलियोंमें रखकर बेचना शुरू कर दिया ; पूरे परिवारको उसमें लगा दिया । मण्डीसे आलू लाये और बेच रहे हैं दो-चार पैसे भाव बढ़ाकर । कभी-न-कभी तो बिकेंगे ही—सड़ने लगेंगे तो घरमें तरकारी बन जायेगी । सुनिए ।····लालाजीने देखते-देखते खासी दूकान खड़ी कर ली । आलूकी टोकरी बड़ी हो गयी, गोभीके फूल और टमाटर भी लालाजीके चबूतरेपर दिखने लगे । बस, मैंने मित्रसे कहा, "भाई, ये लालाजी तो कुछ कर दिखायेंगे ।" और, आजका दिन है कि मुश्किलसे एक साल पूरा हुआ होगा, और लालाजीने दुनिया-भरका अल्लम-ग़ल्लम अपनी दूकानमें सजा लिया है । चेहरेपर रौनक़ आ गयी है और अभी उस दिन ध्यानसे देखा तो लगा कि तोंद भी कुछ बढ़ आयी है ।

इस तोंदके बढ़ आनेवाले तत्त्वने मुझे काफ़ी चौंकाया । मनमें खयाल आया कि चलें लालाजीसे गुरुमन्त्र लें चलकर । सो हम गये, उनसे पूछने लगे, "कहिए लालाजी, क्या हालचाल है ?" और लालाजी चौंककर बोले, "हें-हें भैयाजी, सब मेहरबानी है आपकी !····टमाटर दो आने सेर हैं ।"

बस बस, हमारा उत्साह ठण्डा पड़ गया । लेकिन फिर साहस किया,

"क्यों लालाजी, क्या ख़याल है दुनियाके बारेमें आपका?" लालाजीने जो जवाब दिया उसका मतलब यह था कि दुनियाके बारेमें उनका बड़ा बुरा खयाल है, क्योंकि सब्ज़ी महँगी हो गयी है और बिक्री बिलकुल नहीं होती और लोग-बाग अब वनस्पति घी भी नहीं खाते। बाज़ारमें मिलावट और बनावट इतनी बढ़ गयी है कि कोई असली चीज़को पूछता ही नहीं।

बातें शायद कुछ आगे बढ़तीं किन्तु इसी बीच लालाजीके थोड़ेसे देवता लोग आ पहुँचे और वे उनकी अभ्यर्थनामें लगे। मेरे मनमें कुछ देर यह प्रश्न उलझा रहा कि आखिर यह जो इतनी सारी भागदौड़ दुनियामें है इसका रहस्य क्या है? क्या यह समस्या केवल जीविकाकी है? तो मुझे अचानक यह सुलझाव दिखा कि हर आदमी अपना अधिकसे-अधिक मूल्य लेना चाहता है और दूसरेको कमसे-कम मूल्य देना चाहता है। यही संघर्ष है कि यहाँ हर एक अपनी-अपनी 'ले-दे'में है। हमारे पास कुछ श्रम है, कुछ भाव हैं, कुछ वस्तुएँ हैं: हम इन्हें ऐसे व्यक्तियों-को देनेके लिए उद्यत हैं जिनके पास इनका अपेक्षाकृत अभाव है। बदले में हम अन्य ऐसी वस्तुएं चाहते हैं जिनका हमारे पास अभाव है। इस तरह यह बात बनी कि अपना 'अतिरिक्त' देकर अपने 'रिक्त'को हम पूरा करना चाहते हैं। बुरा क्या है? यह तो प्रत्येकको सम्पन्न बनानेका मार्ग है: आओ कुछ खर्च करो और सम्पन्न हो लो! साधन और सुवि-धाएँ हों तो साधन और सुविधाएँ ले लो, और यों जीवन-पथको सुगम बना लो!

लेकिन कहाँ? जीवन तो ज़टिल होता जा रहा है। यह बेचने-खरीदनेका क्रम सब-कुछको अपनेमें समेट लेता है। विश्वास, प्रेम, रचना—सब-कुछ जो पहले लिया-दिया या किया जाता था अब बेचा-खरीदा जाने लगा है।....और इसी बीच अपने ग्राहकोंसे निपटे लालाजी बोले, "बाबूजी, आलू कितना तौल दूँ?"

इस वक़्त लालाजीका यह तौलना मुझे धौल मारने जैसा लगा।

और मैंने गहराईके साथ इस बातको अनुभव किया कि दूकानदार पहले दूकानदार है फिर और कुछ, यानी वह व्यापारी पहले है और अन्तत: भी सिर्फ़ व्यापारी है। इसीलिए तो लालाजीका सेर-भर आलुओंसे उपजा हुआ अंकुर आज इतना पनप गया है कि लगता है कि दो-चार सालमें वे दो-एक कोठियाँ ख़रीद लेंगे। यह देखकर मेरे मनकी शंका बहुत-कुछ दूर हो गयी कि छोटी पूँजीवालेको बड़ी पूँजीवाला कभी पनपने नहीं देता, उसी तरह जैसे छोटी मछलीको बड़ी मछली खा जाती है। मुझे लगा कि छोटा दूकानदार तो भीतर-ही-भीतर पलीता सुलगाये रहता है और यह बात दूसरी है कि उसका पलीता सामान्य रूपसे सीला हुआ रहता है लेकिन एक बार ज़रा-सी आँच पकड़-भर पाये, फिर देखिए तमाशा—वह बड़े दूकानदारोंका दुर्ग ढहा देगा। हमारे इन लालाजीका पलीता अब आँच पकड़ चुका है : देखिए, क्या कमाल दिखाता है!

दूसरी ओर, छोटा दूकानदार अकसर तो 'मज़दूर' होता है, बड़े दूकानदार 'व्यापारी' होते हैं। यह रहस्य मुझे एक ठेलेवालेने बताया। कहने लगा, "बाबूजी, हमसे क्या पूछते हैं? हम लोग तो मज़दूर हैं। गारा-मिट्टी न ढोया, ठेला ढोया। खोंचा लिये घूम रहे हैं, ठेला लिये ठोकरें खा रहे हैं: और शामको चीखते-चीखते, दौड़ते-भागते थककर चूर हो जानेपर देखते हैं कि दो-ढाई रुपये बचे हैं। इसमें क्या हम खायें क्या बीबी-बच्चोंको खिलायें।"

ठेलेवालेसे मैंने कहा, "भई, तुम तो अजब बात करते हो! तुम्हारी और मज़दूरकी क्या बराबरी! तुम आज़ाद आदमी, अपने मनके बादशाह....और मज़दूर हज़ार हो फिर भी..."

ठेलेवाला सौदागर फीकी हँसी हँसकर बोला, "जी साहब, सुननेमें आपकी बात अच्छी लगती है लेकिन 'हमारी अपनी मर्ज़ी' जैसी कोई चीज़ नहीं। अबे-तबे सुननी ही पड़ती है, दर-दर भटकना ही पड़ता है। साहब, दूकानदारी तो थोक मालवालोंकी है, बड़ी दूकानोंकी है। हम

लोग तो मज़दूर हैं, मज़दूर। हमारे पास भी पैसा होता, उम्दा दूकान होती, तो अपनेको दूकानदार कहते।"

इस आदमीकी बातोंने मुझे ऐसा प्रभावित किया—कहना चाहिए सहमा दिया—कि मुझे साहस ही न हुआ कि उससे और कुछ कह-सुन सकूँ। और जब ठेलेवाला खड़-खड़ करते हुए ठेलेको लेकर आगे बढ़ गया तो मेरे मनमें भी न जाने क्या-कुछ देर तक खँरखराता रहा।

इन्हीं दिनों एक पँचमेल बाज़ारमें एक महाशयसे दोस्ती हो गयी। जब उनसे दोस्ती हो गयी तो उनकी दूकानके आसपास दो-चार अन्य दूकानोंके मालिकोंसे भी जान-पहचान हो गयी, और अब हम चौथे-छठे दिन उधरसे निकलते तो उनको देखकर मुसकराते और नमस्ते करते। कभी-कभार कुछ खरीदना होता तो यह सोचकर यथासम्भव वहींसे लेते कि ये लोग अपने दोस्त हैं, चीज़ सस्ती मिलेगी। यह तो मैं बादमें जान पाया कि दूकानदार कभी दोस्त नहीं होता। आप उसके कितने भी निकट हों, आपके हाथ लागतपर चीज़ नहीं बेचेगा, मुनाफ़ा ज़रूर निकाल लेगा। नहीं तो वह दूकानदार कैसा?

एक दिन हम फ़ुरसतसे थे। उधरसे निकले तो जाड़ेकी सुखद दो-पहरसे प्रसन्न इन मित्रोंने बिठा लिया। उन्होंने खातिर की और मैंने बातें कीं। होते-होते सामाजिकताकी चर्चा छिड़ी—आजकल यही विषय है—तो मैंने यों ही पूछ लिया, "आप लोगोंका सामाजिक जीवन निश्चय ही अच्छा रहता होगा?"

छूटते ही एक मित्र बोले, "क्या कहने हैं! सुबह आठ-साढ़े-आठ बजे खाकर या खाना साथ लेकर घरसे निकलते हैं, दिन-भर दूकानपर रहे और रात दस बजे दूकान बन्द करके घर पहुँचते हैं। अजी, हिन्दुस्तानमें दूकानदारोंकी कोई सोशल लाइफ नहीं होती।"

मैंने चौंककर कहा, "यह तो अच्छा नहीं। आप लोग इतनी अधिक देर दूकानपर क्यों रहते हैं?"

जूतेके दूकानदार हँसे और बोले, "आप भी खूब हैं ! यहाँ इतना भी कम जान पड़ता है। छूट मिल जाये तो दो बजे रात तक दूकान खोले बैठे रहें। मगर क्या करें…क़ानून बन गया है। मजबूरन नौ बजे दूकान बन्द करनी पड़ती है।"

"कई घण्टे हुए न ?"

"हाँ जी, जाड़ोंमें कोई दस-ग्यारह घण्टे और गरमियोंमें बारह-तेरह घण्टे।"

मैंने सुझाव दिया कि दूकानपर घरके और लोग भी तो बैठ सकते हैं। मालूम हुआ कि जिसके घर कोई दूसरा काम देखनेवाला न हो, वह क्या करे? असलमें अकेले आदमीकी दूकानदारी नहीं, और साझेमें निभती नहीं। नौकर रख सकें, ऐसी हैसियत नहीं। हर ओरसे मार-ही-मार है।

मुझे उत्सुकता हुई कि इन लोगोंका पारिवारिक जीवन तो बड़ा विचित्र होगा। यह उत्सुकता कपड़ेवाले मित्रने एक ही वाक्यमें शान्त कर दी, बोले, "हमारा बच्चा माँसे पूछता है कि यह आदमी जो इतवार-इतवार घरमें आता है, यह कौन है ?"

इसके बाद वे बहुत-कुछ बताते रहे कि वे तो दूकानपर आ जाते हैं, अनाज किस भाव मिलता है, तरकारी घरमें है या नहीं, बच्चोंकी किताबों-फ़ीसोंका क्या हिसाब है….उन्हें कुछ नहीं मालूम। लेकिन इस विषयमें तो उनके पहले वाक्यने ही सब-कुछ बता दिया था। जानना शेष क्या था ?

और अब मुझे लगा कि यह सब सुनकर उनकी स्थितिके साथ संवेदना प्रकट करनी चाहिए, थोड़ी देर चुप रहूँ। किन्तु इतनेमें, एक बोला कि यह सन्तोष भी कुछ कम नहीं है कि अपने मालिक खुद हैं, किसीके नौकर नहीं। सोचते हैं तो भी यही कि 'अपनी' दूकानदारी कैसे बढ़ायें, अपना माल कैसे बेचें, लाभ कैसे होगा, हानि कैसे न हो।

लेकिन, बिसातखानेके मालिक जो तनिक स्थूलकाय थे, और इसलिए आरामतलब भी, बोले, "'ऐसा' मालिक बनकर क्या करें साहब कि छुट्टी

कभी मना नहीं सकते, चैन कभी पा नहीं सकते। एक दिनको दूकान बन्द कर दो, दस दिन तक शिकायतें सुननेको मिलें। हफ़्ते-भरको दूकान बन्द हो जाये तो आधे गाहक टूट जायें।"

मेरी रुचि बढ़ी, "यानी कुछ बँधे ग्राहक भी होते हैं क्या?"

"और क्या," उन्होंने उत्तर दिया, "बीस फ़ीसदी ग्राहक तो आम-तौरपर बँध ही जाते हैं जो आपकी ही दूकानसे खरीदारी करेंगे। इसमें उन्हें भी सुविधा है और हमें भी।"

"और बाक़ी खरीदार?"

मेरे प्रश्नको सुनकर सबके-सब हँसे और मुझे बताया गया कि बाक़ी खरीदार ही तो 'दूकानदारी' है। लासा लगाये बैठे रहो, ग्राहकको बिना फाँसे न छोड़ो। जो आये वह कुछ लेकर ही जाये। यही आर्ट है, यही 'टैक्ट'। जो इसमें मँज गया उसीकी दूकानदारी है। पहले इसका अनुमान लगाओ कि यह गाहक कितने पैसे दे सकता है, फिर उतने ही वसूल कर लो। दस रुपये खर्च करनेकी इच्छावालेका मन दो रुपयेकी चीज़से क्या भरेगा और दो रुपये खर्च करनेवाला दस रुपयेकी चीज़ क्या करेगा? इसलिए ग्राहकको पहचानो—यह पहली बात, और अपनेको पहचानो यह दूसरी बात।

"मैं····मैं समझा नहीं।" मैंने अचकचाकर बताया।

"जी हाँ," जूतेवालेने समझाया, "अपनी दूकानको भली भाँति जानो, अपने हिसाब-किताबकी पूरी जानकारी रखो। कौन चीज़ पुरानी पड़ गयी, किसका मौसम गुज़र चुका, किसकी माँग अधिक है····यह सब जाने रहो। कितना आया, कितना बिका; कितना लाभ, कितनी हानि; किसे पहले बेचो, किसे बादमें····यह सब पता नहीं तो चल चुकी दूकान! और जो नौसिखिये हैं वे दिसम्बर-जनवरीमें ग्राहकको बरसाती जूता दिखाते रहते हैं।"

मैंने कहा, कि "यह सब तो खैर है ही, पर सफलताके कुछ-न-कुछ

नियम तो आपने भी सोचे होंगे। वे क्या हैं ?"

स्थूलकाय, और स्पष्ट है कि, भाग्यवादी कपड़ेवालेने बताया, "यह सब कुछ नहीं, जिसकी चल जाये, उसकी चलती है। और क्या ?"

लेकिन जूतेवाले महाशयने सम्भवतः पहलेसे इसे सोच रखा था। वे तत्काल बोले, "तीन ही बातें हैं जी : दूकान, दूकानदार और दूकानका सामान। दूकानकी स्थिति अच्छी हो; दूकानदार ईमानदार, व्यवहार-कुशल, संक्षेपमें 'आदर्श व्यक्ति' हो; और 'शो' अच्छा हो—ग्राहक ज़रूर आकर्षित होगा। हाँ, मुख्य बात है 'दाम'। जैसे पानी अपना धरातल खोज लेता है वैसे ही ग्राहक भी अपना दाम खोज लेता है। ग्राहकका दाम यानी सबसे कम दाम। इसलिए जो दूकानदार ज़्यादा दामपर चीज़ बेचेगा, ग्राहक उसके पास न फटकेगा। बड़े दूकानदारोंकी बात अलग है। उनके ग्राहक दूसरे, पूँजी ज़्यादा, 'शो' बेहद, और माल अन्धाधुन्ध !"

ये सारी बातें हुई तो मुझे लगा कि हर क्षेत्रकी तरह दूकानदारोंमें भी बड़ी प्रतियोगिता है और ये बेचारे इसमें पिसे जा रहे हैं। लेकिन मुझे फिर एक नयी बात मालूम हुई। चेहरेसे बेवक़ूफ़ दिखनेवाले एक सेल्स-मैनने कहा कि जिस बाज़ारमें कम्पिटीशन नहीं होता, वह बाज़ार खत्म हो जाता है और जिस चीज़में कम्पिटीशन नहीं होता वह चीज़ खत्म हो जाती है। अकेली दूकानकी क्या शोभा ! कम्पिटीशन होना चाहिए, क्योंकि उसमें बिक्री भी अधिक होगी और ग्राहकोंके मनोविज्ञानका अध्य-यन करनेका अवसर भी अधिक मिलेगा।"

अचानक बातोंकी धारा एक अप्रिय वास्तविकतापर ठहर गयी और देर तक ठहरी रही। "बिक्रीका क्या हाल है आजकल ?" सुनकर मेरे दोस्त चुप हो रहे। वे लोग जो अपने व्यवसायके बहुत-से विषयोंपर बहुत-से विचार प्रकट करके भी थके न थे, एकाएक धीमे पड़ गये। "साफ़ कमीज़ तो पहननी ही पड़ती है, नहीं तो खरीदार आँख उठाके भी न देखे," एक आवाज़ उभरी। कपड़ेकी दूकानवालेने कहा कि लोग आते हैं, पूछते हैं,

"आपके यहाँ कोई कपड़ा है?" दो-चार थान उलट-पुलटकर देखते हैं और चले जाते हैं। मेरे मितभाषी मित्र जूतेवालेने मुसकानेका यत्न किया और वह मुसकान उनके निष्प्रभ होठोंपर और भी फीकी जान पड़ी।

दूकानोंके सामनेकी सड़कपर एक बस ऐसी आकर बिगड़ी थी कि अब ठीक होनेका नाम ही न लेती थी। मेरे अधिकांश मित्र उधर आकर्षित हो गये और बातोंका सिलसिला अच्छा ही हुआ कि थम गया। लेकिन मैं! मैं सोचता रहा कि इन छोटे दूकानदारों और बड़े दूकानदारों में पूंजी का ही तो अन्तर है। ये टुटपुँजिये हैं और उनकी 'माया' बहुत फैली है। मगर इसी अनुपातसे उलझनें और परेशानियाँ भी तो बढ़ी होंगी।

तभी हँसमुख दोस्तने पूछा, "क्या सोच रहे हैं, भाई साहब?" जब मैंने बताया तो उसने समस्या सुलझा दी। उसकी बात मेरे मनमें बैठ गयी कि बड़ा दूकानदार थोकका विक्रेता है और छोटा दूकानकार परचून यानी 'रिटेल' बेचता है।

इस बीच दूकानमें कुछ खरीदार आ पहुँचे थे। मुझे कुछ देर पहले सुनी कहावत याद आयी कि 'ग्राहक और मौतका कोई समय नहीं, किसी भी वक़्त आ सकते हैं। इतना ही नहीं, अकसर दोनोंमें एकरूपता भी होती है, वह यों कि खाली हाथ लौटा हुआ ग्राहक ही तो दूकानदार की 'मौत' है।

खरीदार चले गये थे और इसके पहले कि मेरे दोस्तके मुँहसे उनके लिए गालियाँ निकलतीं, मैंने सबसे आज्ञा माँगी, "चलूँ, अब तो ग्राहक आने शुरू हो गये, आप उनसे निपटिए।"

और वे लोग कहते ही रहे कि चाय पीते जाओ पर मैंने साइकिल उठा ली। बहुत देर तक निरुद्देश्य घूमता रहा। हर चौराहे, नुक्कड़पर, खास या आम जगहोंपर, पानकी दुकानें दिखायी दीं। शीशोंमें अपनी-उनकी शक्लें दिखीं और मुझे लगा कि पानवाला ही उस 'छोटी दूकान-दारी' का सजग प्रहरी और प्रतिनिधि है जो देर तक दूकान खोलकर अधिकसे-अधिक बिक्री करना चाहता है। जिसके पास पूँजी कुछ भी नहीं

मगर हौसले बहुत हैं। जिसका जीवन कुछ भी नहीं किन्तु जिसमें जीवनसे लिपटे रहनेकी आकांक्षा अशेष है।

मेरे कानोंमें न जाने कब सुनी हुई पंक्तियाँ गूँजने लगीं···

तम्बोलियोंकी दूकान इधर-उधर हैं खुलीं।

कुछ ऊँघती हुई बढ़ती हैं शाहराहोंपर :

मेरे ख़यालसे अब एक बज रहा होगा।······

मेरे ख़यालसे····मेरे ख़यालसे···अब एक बज रहा होगा। लेकिन वहाँ ? देखिए, अभी तो एक बजनेमें·····'एक' हो जानेमें बड़ी देर है।

और मुझे जान पड़ा कि जैसे मेरी आवाज़ उन सबकी आवाज़ है, मेरा साथ उन सबके साथ है, जो अभी 'एक'से कम हैं, बहुत कम हैं, मगर 'एक' हो जानेके लिए अनवरत संघर्ष कर रहे हैं। आपका क्या ख़याल है ? इससे सहमत हैं या नहीं कि छोटा दूकानदार भी ऐसोंमें-से 'एक' है।

रफ़्तार

खट्....खट्....खट् ।

इधर सवा नौ बजे नहीं कि उधर मास्टर साहबके घरसे बादाम फोड़ने की आवाज़ आने लगती है। मैं समझ जाता हूँ कि अब जल्दी ही उनके यहाँ सोता पड़ जायेगा। फ़र्शपर लोढ़ेकी धमक छह-सात बार पड़ती है और फिर चूड़ियोंकी खनक खामोश हो जाती है। मैं आँखें बन्द करके सोचता हूँ कि अब बादाम भिगो दिये जायेंगे, सुबह उठकर मास्टर साहब बादामों का ही नाश्ता करते हैं। तभी तो तन्दुरुस्तीकी यह हालत है कि ख़ून आँखों से छलका पड़ता है।

सवा नौ बजेसे लेकर न जाने कितनी देर तक मैं कुछ भी लिख-पढ़ नहीं पाता। मनमें यही बात घूम-फिरकर चक्कर काटती है कि बादाम सेहतके लिए कितने फ़ायदेमन्द हैं। देखो, मास्टर साहब कितने बूढ़े हैं फिर भी चेहरेपर कैसी आभा झलकी हुई है। बादामके छिलकोंका मंजन कितना अच्छा बनता है। बादाम गरम भी तो होता है—चार मींगियाँ खा लो और कमीज़ पहनकर दिसम्बरका जाड़ा झेल लो। तभी तो मास्टर साहब एक बनियाइन और जाँघिया पहनकर सुबहसे अपने कमरेमें बैठे रहते हैं, रज़ाई-गद्दा तो दिनमें एक पलके लिए भी नहीं छूते।

सच पूछो तो बादाममें फ़ायदे-ही-फ़ायदे हैं। लेकिन यह कमबख्त मँहगा इतना होता है कि कुछ कहते नहीं बनता। कमसे-कम चार-पाँच रुपये सेर तो ज़रूर होगा। मैं सोचता हूँ कि कल ज़रूर पूछूँगा। मास्टर साहबसे तो खैर हिम्मत क्या पड़ेगी ! और फिर....खयाल आता है कि ये मेवेवाले भी कितने ठग होते हैं। एक तो इतना मँहगा सौदा देंगे और उसपर बादामका निकम्मापन भी कैसा कि ऊपरसे देखनेमें तो सन्तरेकी फाँक जैसे लगेंगे और

फोड़ो तो पतली-सी मींगी निकलेगी। सेर-भर बादाम फोड़ डालो तो जाकर कहीं आध पाव मींगी हाथ लगे। पाँच रुपयेकी आध-पाव मींगी! कहीं सुनवाई भी नहीं है इस लूटकी!

मैं कान लगाकर सुनता हूँ। मास्टर साहबके मकानसे कोई भी आवाज़ नहीं आ रही है, न चूड़ियोंकी खनक और न मास्टर साहबके खर्राटे। शायद खर्राटे रज़ाईके भीतर ही गूँज-गूँजकर रह जाते होंगे। मास्टर साहब भी खूब आदमी हैं। खर्राटे भरते हैं तो लगता है कि हवाई जहाज़ एक ही जगहपर उड़ रहा है। हवाई जहाज़के एक ही जगह उड़ने का ख़याल मेरे होठोंपर मुसकराहट ला देता है। मैं कल्पनाकी आँखोंसे देखता हूँ: किसी गिलासमें, या शायद किसी कटोरीमें बादाम भीग रहे हैं, सुबह मुलायम होकर दूध-जैसे उजले हो जायेंगे। दूध-जैसे बादाम और तारकोल-जैसे मास्टर साहब! वाह, वाह, तारकोल-जैसे नहीं हाथी सरीखे! और चूड़ियोंकी खनक—सितारोंकी बेहोशी-जैसी चमक-दमक और रंग-भरी खनक! आई! बादाम भी अजीब चीज़ है। ऊपरसे कितना कठोर, भीतर से कितना मुलायम और भीगनेपर और भी कोमल! जैसे मक्खन, जैसे चाँद, जैसे पैसे········

उफ़! यह घड़ी किस क़दर शोर मचाती है। टन-टन करके दस बजा दिये। मास्टर साहब कैसे सो पाते होंगे? ख़ैर, मास्टर साहबकी नींद तो क्या टूटती होगी—उनके खर्राटे रज़ाईके भीतर और उनकी घड़ीके घण्टे रज़ाईके बाहर। लिहाफ़ तो मास्टर साहबके लिए कर्णका कवच हो गया। घड़ीके वे खड़कते हुए तीर जो अपने आघातोंसे मुझे बेचैन कर देते हैं उन्हें छू तक नहीं पाते।

····लेकिन वह चूड़ियोंकी खनकवाली! पता नहीं ये कौन हैं—मास्टर साहबकी पत्नी है या लड़की, कुछ पता नहीं चलता। और ये काम कितना करती हैं! इनकी चूड़ियाँ कितना खनकती हैं लेकिन ये बिलकुल नहीं बोलतीं। सवा नौ बजेंगे तो घरका काम निबटाकर उठेंगी और खट्-खट्-

खट्‌····फ़र्शपर रखकर बादाम फोड़ेंगी। चार····पाँच····छह···सात····सात बादाम फोड़ेंगी और फिर बस! सन्नाटा छा जायेगा और फिर तभी टूटेगा जब घड़ी टनाटन दस बजायेगी। सात बादाम····सात तो मास्टर साहबको भी न पूरे पड़ते होंगे। क्या खुद नहीं खातीं? तभी तो इनकी चूड़ियोंकी खनक इतनी कमज़ोर है, शायद ये भी उतनी ही दुबली-पतली होंगी। बोलती तो बिलकुल हो नहीं, बोलते तो सिर्फ़ बादाम हैं और वह घड़ी जो रातको टन-टन दस बजाकर मेरे विचार अस्त-व्यस्त कर देती है।

दिमाग़पर ज़ोर देता हूँ तो याद आता है कि बादाममें खुशबू नहीं होती लेकिन रंग अलबेले होते हैं। खुशबू नहीं, लेकिन रंग अनोखे। ऊपर से हलका पीला, भीतरसे भूरा और उसके भी भीतर दूधिया। बादाम न हुआ सात परदोंके भीतर रहनेवाली काहिराकी रंगीन राजकुमारी हो गयी! तभी तो मास्टर साहब बादाम खाते हैं, तभी तो वे तारकोलकी तरह हैं···· नहीं-नहीं हाथीकी तरह। और वह चूड़ियाँ खनकानेवाली राजकुमारी—उसमें खुशबू है, सुबहकी हवा-जैसी मीठी खुशबू, लेकिन रंग नहीं। तभी तो वे उतनी खामोश रहती हैं। सुग़न्ध तो केवल बिखरती है, रंग बोलते हैं।

और मैं इस पड़ोसके घरके वातावरणसे कितना अपरिचित हूँ। न रंग बन सका हूँ, न खुशबू; न हाथी बन सका हूँ, न बादाम! न मेरे हाथोंमें चूड़ियाँ खनकती हैं और न मेरे खर्राटे हवामें गूँजते हैं। मैं···मैं तो घड़ी हूँ—टनाटन दस बजानेवाली घड़ी, जिसमें अनवरत घण्टे बजते हैं, जिसकी धड़कन अजब है कि धीमे-धीमे चलते हुए अचानक चीख़ पड़ती है और गुहार मचा देती है। इसके बाद फिर वही धीमी धड़कन, वही पुरानापन, वही खामोश रफ़्तार!

····तेज़ हवाके झोंके बग़ैर सिटकिनीकी खिड़की खोलकर घुस आये हैं, कमरेमें तूफ़ान मच गया है। मैं सिहरकर कम्बलको कसकर लपेट लेता हूँ। आँखोंके सामने रखी किताबके पन्ने उलट-पुलट गये हैं। चलो, वही पुराना पन्ना फ़िरसे खोलो!

इन्तज़ार

रोशनउद्दौलाकी कचहरी।

तेईस जून, सन् उन्नीस सौ पचास।

ख़ैरियत हुई कि सुबहसे आकर नहीं बैठा वरना इन्तज़ार करता और अन्तमें निराश होकर लौट जाता। अब इस समय साढ़े दस बजे हुए हैं और मेरी मोटर सिर्फ़ दो बजे जाती है। मैं बैठा हुआ हूँ। आने-जानेवालोंकी भीड़ बस-स्टेशनके इस अकेले हिस्सेमें बहुत कम है। इत्तफ़ाक़ कुछ यह कहिए कि लकड़ीकी टूटी बेंचपर भी केवल मेरा अधिकार है और मैं आरामसे अपनी अटैचीपर सर रखकर इस एकाधिकारका पूर्ण उपयोग भी कर रहा हूँ। सोचता हूँ कि घरसे चला तो बस-स्टेशनपर रुक गया, यहाँसे चलूँ तो पता नहीं कहाँ रुक जाना पड़े। यह चलने और ठहरने, और ठहरकर प्रतीक्षा करनेका क्रम जैसे जीवनका अनिवार्य अंग बना जा रहा है।........

बड़े-बूढ़े कहते हैं कि सोचनेका रोग बहुत बुरा है, और शायद इसीलिए मेरे विचारोंकी शृंखला अचानक तोड़ देनेके लिए कुछ ऊधमी लड़कों, ड्राइवरों और बस-कण्डक्टरोंका एक दल एकाएक इस एकान्त हिस्सेको शोर-गुलसे भर देनेके लिए आ पहुँचा है। मैं चौंककर देखता हूँ—उन सबकी आँखें सामनेके लेडीज़ वेटिंग-रूमकी तरफ़ हैं। यह भी खूब है—इस लेडीज़ वेटिंग-रूमको पहले-पहल देखा तो मुझे बड़ी हँसी आयी। टीनके शेडके नीचे चार दीवालें घेरकर इसका निर्माण हुआ है। नीले शीशोंसे जड़े हुए दरवाज़ेके ऊपर सफ़ेद दीवालमें तारकोल पोतकर बेढंगे और बेडौल अक्षरोंमें लिख दिया गया है....'ज़नाना वेटिंग-रूम।' दरवाज़ेपर एक टूटी चिक पड़ी है। वेटिंग-रूमके भीतरका आधेसे अधिक हिस्सा मेरी बेंचसे दिखायी देता है। मैं देख रहा हूँ, एक मुसलमान महिला

बुर्क़ा डाले हुए बैठी है, एक जवान लड़की दूसरी बेंचपर आधी लेटी हुई अख़बार पढ़ रही है। इतनी दूरसे पता नहीं चलता कि अख़बार अँग्रेज़ीका है या हिन्दीका, लेकिन लगता है कि वह पढ़ ज़रूर रही है। चिक टँगी हुई है, परदा बहुत कम हो पा रहा है और शायद उस जवान लड़की और उन अधेड़ महिलाको उसकी ज़रूरत भी नहीं।

....और अब अचानक टीनके गरम शेडके इस एकान्त कोनेमें यह शोर उमड़ आया है। मेरी सोचती हुई गम्भीर आँखें ऊपर उठ जाती हैं। ख़ाकी वर्दी पहने हुए एक बस-ड्राइवर आगे-आगे है। उसकी तेज़ निगाह चिकके भीतर पड़ती है, और जवान लड़कीके रूपका तनाव जैसे उसे एक झटका दे देता है। तेज़ क़दम धीमे पड़ जाते हैं, मानो क़ानूनके सबसे पहले नियम उसे याद आ गये हों। चिकपर बढ़ा हुआ उसका आतुर हाथ झिझककर वापस आ जाता है। उसकी ख़ाकी वर्दीपर पीतलके हरूफ़ वैसे ही चमक रहे हैं जैसे उसका आबनूसनुमा चेहरा।

बड़ी देर बाद रहस्य खुलता है कि यह तमाम हुड़दंग एक कबूतरके पीछे हो रहा है। पता नहीं किसका पाला हुआ कबूतर किस तरह उड़ गया! हुआ यह कि उसने आकर ज़नानख़ानेमें शरण ली। मैंने हँसकर सोचा कि इस कबूतरने भी छिपनेकी अच्छी जगह ढूँढी....ज़नाना वेटिंग-रूम यानी स्टेशनका सबसे दिलचस्प और प्यारा हिस्सा! बहुत ख़ूब! लेकिन मुझे अधिक देर उस कबूतरके भाग्यसे ईर्ष्या करनेका अवसर भी नहीं मिलता कि वेटिंग-रूमकी खिड़कियाँ और दरवाज़े खटाखट बन्द होने लगते हैं और उस छोटेसे कमरेके भीतर....एक अधेड़ महिला, एक जवान लड़की, एक ग़रीब कबूतर, एक बेहद गुल मचानेवाला झुण्ड, और मेरी अनगिनत उत्सुकताएँ जाकर गिरफ़्तार हो जाती हैं। लेकिन लगता है कि कबूतरों-को इन्सानकी संगत कुछ बहुत पसन्द नहीं, इसीलिए तो उस बिना छतवाले वेटिंग-रूमसे उड़कर कबूतरने अपना क़ब्ज़ा टीनके शेडको साधनेवाली वल्लियोंपर जमा लिया। शोर मचा, दरवाज़ा खुला। भर्रा मारकर

ड्राइवर और बस-कण्डक्टर निकले, और उस युवतीके मुखपर अत्यधिक परेशानीके बाद आरामकी हलकी लाली दौड़ती हुई मैंने देखी। कबूतर वल्लियोंका आसरा छोड़ कहीं उड़ गया, और शोर-गुल धीरे-धीरे दूरीमें मिट चला। इस बार मैंने देखा तो चिकको अधरमें लटका पाया। एक कील टूट चुकी थी, दूसरी एक हलके धक्केके इन्तज़ारमें थी। परदा तनिक भी नहीं हो पा रहा था और सम्भवतः उन अधेड़ महिला और जवान लड़कीको उसकी आवश्यकता भी न थी।

····घड़ीकी सुई कुछ आगे खिसकी है। मेरी बसके छूटनेमें अब भी डेढ़ घण्टा है। अभी-अभी धूलसे लदी-फँदी एक मोटर आकर रुकी है। उसके सारेके-सारे मुसाफ़िर उतरकर अपनी-अपनी राह चले गये हैं, सिर्फ़ ड्राइवर है कि इस लम्बे सफ़र-भर रास्तेमें आँखें गड़ाये रखनेके बाद, थोड़ी देरके लिए मुलायम गद्दोंपर आराम करनेके लिए लेट गया है। अब धूलके बादलोंकी जगह धूँएके बादल बसके भीतर भर रहे हैं।····यह लकड़ीकी टूटी बेंच न तो मुलायम गद्दोंका काम दे पा रही है और न मेरा सूटकेस तकियेका। आरामकी हर करवट दो मिनिट बाद तकलीफ़ देने लगती है। एक बार जो मैं करवट बदलता हूँ तो बीड़ी पीते हुए ड्राइवरसे हटकर आँखें दूसरी ओर जा पड़ती हैं। टीन-शेडके नीचेके इस प्लैटफ़ॉर्मपर कुछ नये चेहरे नज़र आ रहे हैं। उनकी निगाहें अकसर उस जवान लड़कीपर जाकर टिक जाती हैं जिसने अखबार रखकर अब कोई किताब खोल ली है। ये सज्जन मेरे पाससे गुज़रते हैं तो उनकी बात मेरे कानोंमें पड़ जाती है। कह रहे हैं···अंग्रेज़ोंके चले जानेके बाद हिन्दुस्तानियोंकी नस्ल खराब होती जा रही है। वह तौर-तरीक़ा, वह सभ्यता, वह····वह ··।' मैं चौंककर अपने चारों ओर दबी हुई आँखें फेरता हूँ—देखूँ तो, कितनी शकलें खराब हो चुकी हैं।····लेडीज़ वेटिंग-रूमकी चिक न तो गिरी है, न लगी ही हुई। एक कीलके सहारे लटकी हुई त्रिशंकु-सरीखी चिक अजीब भद्दी लगती है, उतनी ही भद्दी जितनी कि यह टूटी बेंचे जिसपर मैं

लेटा हुआ हूँ। मुझे लगता है कि सचमुच अँग्रेज़ोंके जानेके बाद हिन्दुस्तानियोंकी नस्ल बिगड़ चुकी है। यह टूटी बेंच, वह थका ड्राइवर, यह आधी लटकी हुई चिक, और वह''''वह मुँह खोले हुए जवान बेपर्द लड़की। यह कोट-पैण्टधारी नवयुवक और मुझ-जैसे टूटे-फूटे बेकार इनसान। मेरा मस्तिष्क इस तरहकी बातें और अधिक सोचनेसे इनकार कर देता हैं। नस्लकी खराबीके साथ अपना नाम जुड़ते ही मेरा मन एक विचित्र-सी विरक्तिसे भर उठता है। एक फटी-फटी मुसकराहटके साथ मैं उठकर बैठ जाता हूँ।

बस-स्टेशनका एक हिस्सा अब भी मेरी दृष्टिसे अपरिचित बच रहा है। इस तरफ़ पकौड़ियाँ तली जा रही हैं। एक लड़का भट्ठीके पास बैठा हुआ बेसनकी पकौड़ियाँ बना रहा है। वह इतना मैला और काला है कि मुझे लगता है जैसे किसीने ख़ुद उसीको गरम तेलमें भूनकर भट्ठीके ऊपर बिठला दिया है।

कुछ दूरपर एक साधु दीवालका सहारा लिये ध्यानस्थ बैठा है। पता नहीं यह उसकी साधनाका तक़ाज़ा है या तन्मयताका कि इतनी देरसे बैठा हुआ है और आते-जाते मुसाफ़िरोंको देखकर एक बार भी दुआएँ नहीं देता, एक बार भी नहीं कहता—'दाता रहम करे!', 'फ़क़ीरको दो पैसे देता जा!'''''वहीं, पास ही एक बुढ़िया टोकरीमें दर्जन-दो-दर्जन घुले-घुलाये केले रखे है। मैं नहीं जानता कबसे वह चीख रही है। मुझे तो सिर्फ़ यह दुःख होता है कि उसने पागलों-जैसी रट लगा दी है—'सस्ते-मीठे केले, पैसे-पैसे।' और मैं कितनी देरसे देख रहा हूँ कि झुण्डके-झुण्ड मुसाफ़िर आते हैं और चले जाते हैं लेकिन कोई भी बुढ़ियासे एक केला नहीं खरीदता। कोई भी ध्यान नहीं देता कि उसका दम टूट गया है या उसकी धीमी होती जाती आवाजके साथ उसका दिल डूबता चला जा रहा है।''''और दूसरी ओरका दृश्य बड़ा मनमोहक है। उन भभूत रमाये बाबाजीके फैले हुए निर्विकार हाथोंपर सिक्कोंकी चमक साफ़ दिखायी दे

रही है, जो बदलेमें आशीर्वादका एक शब्द भी बोल देना गुनाह समझते हैं।

····मेरे होठोंपर एक फटी-फटी मुसकराहट फैल जाती है। मैं सोचता हूँ कि उन कोट-पैण्टधारी महाशयने भारतवर्षको कितना ग़लत समझ रखा है। नयी रोशनीके आदमी हैं न! उन्हें पता नहीं कि हिन्दुस्तानकी नस्ल तनिक भी ख़राब नहीं हुई है। वे नहीं जानते कि इनके देशके निवासी आज भी अपनी महान् संस्कृति और सभ्यताके गर्वसे सिर ऊँचा करके चल रहे हैं। वे कुछ भी नहीं जानते, वे सूटधारी सज्जन संसारसे तनिक भी परिचित नहीं।

····विचारोंका भारीपन मुझे व्याकुल कर देता है। मैं घबड़ाकर निगाहें फेरता हूँ—हवाके किसी गुस्ताख झोंकेने चिकको जमीनपर गिरा दिया है, लेकिन वह जवान लड़की न जाने कहाँ चली गयी है। अधेड़ महिला बुर्क़ा सिरपर डालकर अपनी भावनाशून्य उदास आँखोंसे इधर-उधर ताक रही है। वेटिंग-रूमका तो सारा आकर्षण ही खत्म हो गया है। टूटी बेंचपर और अधिक बैठे रहना मेरे लिए असम्भव होता जा रहा है। इन्तज़ार करते-करते आँखें दुखने लगी हैं। यह इन्तज़ार भी कितना मुश्किल है···· यह बसका इन्तज़ार, यह नयी नस्लका इन्तज़ार, यह टूटी हुई बेंचोंके बदल जानेका इन्तज़ार! मेरा धैर्य टूटता जा रहा है। ऊबी हुई परेशान आँखें ऊपर उठती हैं। ओह! घड़ीकी सुइयाँ इस बीच कितना आगे सरक गयी हैं और····

धूलके बादल उड़ाती हुई मेरी मोटर अभी-अभी बस-स्टेशनके भीतर दाखिल हुई है।

नीमकी टहनी

[कविताएँ]

अपने-पराये

बादल पराये हैं ।
इसीलिए शायद ये जन-मन को भाये हैं ।
पल-भर रहेंगे ये,
दुख नहीं सहेंगे ये,
भार लिये धाराधर, मुझपर घिर आये हैं ।

अपने जो : देते सुख,
दूसरे भले दें दुख—
आँसू के कन मैंने इनसे ही पाये हैं ।
बादल पराये हैं ।

आसमान अपना है ।
जैसे मुझको वैसे इसको भी तपना है ।
भागे तो जाय कहाँ,
मुक्ति भला पाय कहाँ,
उसको तो इसी जगह मरना है, खपना है ।

और भी समानता
मैं हूँ पहचानता—
आसमान भी, मैं भी : सब कैसा सपना है !
आसमान अपना है ।

रचना-प्रक्रिया

गीतों के पाटल···
गीतों के शतदल····?
नहीं, नहीं–
गीतों के बादल ।

उगे आ रहे····
उड़े जा रहे····?
नहीं, नहीं–
मन के नभ पर आये औ' बहे ।

कुछ-कुछ सकुचाये···
सिमटे-शरमाये···?
नहीं, नहीं–
ठिठके, सिहरे, लहराये ।

तरसे····
या पुलक-पुलक हरषे····?
नहीं, नहीं–
जन-मन की धरती पर बरसे ।

और ज़मीं नम हुई····
तपन ज़रा कम हुई···?
नहीं-नहीं–
बादल बरसे तो मन छुई-मुई, छुई-मुई ।

कितने ही बिम्बों की कौंध से प्रकाशित हो,
अब कविता यों बनी कि–

"गीतों के बादल
मन के नभ पर आये औ' बहे।
ठिठके, सिहरे लहराये,
जन-मन की धरती पर बरसे....
बादल बरसे तो मन छुई-मुई, छुई-मुई।"

हाय मैं ! अनावृत मैं !!
जगती के सम्मुख मैं !!

तुम्हारी खोज में

तमाम लोगों के बीच
मैं तुम्हें खोजता हूँ।
जाते हुओं में और
आते हुओं में,
हँसते, चुप बैठे, रोते,
गाते हुओं में
केवल तुम्हें खोजता हूँ!
किन्तु कैसी विवशता है कि
सब में
मैंने
केवल अपने को पाया है।
भीड़ों में धँसकर
या बाँहों में कसकर,
उठकर या गिरकर,
चलते-चलते रुककर
लोग!
उनकी विवशता थी कि
मेरी ही तरह
वे भी तुम्हें खोजते थे!
अरे! उन सब में
मैंने
तुम्हें नहीं,
बार-बार अपने को पाया है।

ख़त्म नहीं होता है कुछ भी

विचलित कर देने से अच्छा है
विचलित हो जाना।
दुखी बनाने से बेहतर है
दुख पाकर मर जाना।

कितना ही चाहें
पर हम निस्संग नहीं हो सकते हैं,
जिस पीड़ा का कारण हम थे
उसको ग्लानि अवश्य हमारे अन्तर को रँग देगी।
उसे नहीं धो सकते हैं।

अपने कृत्यों के तटस्थ द्रष्टा बनकर हम
कभी नहीं रह पाते हैं,
शब्द हमारे !—अस्त्र हमारे ! हमसे चलकर
लौट हमीं तक आते हैं।

जो कहकर हमने समझा था,
अब तो इसको कह डाला,
जो करके हम सोच रहे थे—
सहना जिसे पड़ा, उसने तो आसानी से सह डाला।

खत्म नहीं होता है कुछ भी,
कितना ही सोचें-समझें।

टूटे हुए तीर ने यदि बेधा था कुछ
तो
बिंधे हुए की आह, तीर से अधिक तीव्र
हो
हम तक आती,
छाती चीर पार हो जाती
कभी न पुरनेवाला घाव बनाती है।

काश ! तीर की जगह
खुशी की किरन छूटती इस मन से!
काश ! रक्त की जगह
हँसी की लहर बहायी होती हमने !

अकस्मात्

अकस्मात् ही दिख जाते हो।

ऊँचे पेड़ों की फुनगी से
हरे-भरे पत्तों के नन्हे हाथ हिलाकर
मुझे बुलाते हो :
फिर ओझल हो जाते हो।
ओट मोरपंखी की लेकर
लुका-छिपी करते हो :
छूने तुम्हें चलूँ तो हाथ नहीं आते हो।
अकस्मात् ही छिप जाते हो।

दीवारों पर लिखे इश्तहारों के ऊपर
अंकित हो उठते हो :
तत्क्षण मिट जाते हो।
दूर कहीं से आती स्वर-लहरी में तिरकर,
मुझको छूकर, आस-पास ही मंडलाते हो।
मादक, मधुर गीत गाते हो :
और मूक हो जाते हो फिर अकस्मात् ही।

उधर—जहाँ पर मंगल तारा,
वहीं कहीं आवास तुम्हारा—
ऐसा जतलाते हो।
उस तारे को अपनी आभा से
तुम कितना-कितना चमकाते हो।

चकाचौंध कर देते हो मुझको :
फिर एकदम बुझ जाते हो ।
तारे को, मेरी आँखों को भी,
निस्तेज बना जाते हो ।
अकस्मात् ही ।
टिक-टिक करती हुई घड़ी में आ बसते हो ।
राह सुझाते हो, कहते हो, सुनते हो,
बातें करते हो ।···

मेरे सपने !
तुम मेरे बिलकुल ही अपने हो जाते हो—
कभी-कभी तो ।
बीच-बीच में कहीं चले जाते हो,
फिर वापस आते हो ।
तुमको पाने के रखने के यत्न करूँ या नहीं करूँ,
पर,
मिलते भी हो—बार-बार—खो भी जाते हो ।
मेरे सपने !
सब अकस्मात् !

रहस्य

मन की सौ परतों के भीतर
है एक रहस्य छिपा मुझमें ।

वह किरनों-सा तीखा, पैना,
वह हिरनों-सा चंचल, आतुर,
वह सपनों-सा मोहक, मादक,
वह अपनों-सा अपना, प्रियतर,

मुझमें है एक रहस्य छिपा
मन की सौ परतों के भीतर ।

वह मुझे मूक कर देता है,
वह मुझमें अनगिन स्वर भरता,
निश्चल, निस्पन्द बनाता है,
जीवन-भर की जड़ता हरता,

है मुझमें एक रहस्य छिपा
मन के भीतर सौ परतों में ।

कितना ही उसे दबाता हूँ,
वह उभरा-उघरा आता है,
कितना ही उसे बताता हूँ,
वह व्यक्त नहीं हो पाता है,

है छिपा हुआ मन के भीतर
सौ परतों में कोई रहस्य ।

फिर कभी-कभी ऐसा होता–
मन है ? परतें हैं ? या रहस्य ? :
यह जान नहीं मैं पाता हूँ ;
पर मुझे ज्ञात इतना अवश्य–

उसके ही कारण है मेरी
अनुरक्ति जगत में, जीवन में ।
है एक रहस्य छिपा मुझ में
सौ परतों के भीतर मन में ।

७

स्मृतियाँ

पगध्वनियाँ जितनी भी,
जब भी सुनायी दीं
—मेरे ही जूतों की
घिसट रही गतियाँ थीं।
आकृतियाँ जैसी भी,
जो भी दिखायी दीं
—दर्पणमें मेरे ही
मुख की विकृतियाँ थीं।

किन्तु आह ! स्मृतियाँ !!
—वे केवल तुम्हारी ही।

अभिलाषा

लगा कि
सिरहाने बैठीं तुम
मेरे उलझे बालों को
कोमल-कोमल सुलझाती हो,
माथे को सहलाती हो,
मधुर-मधुर कुछ गाती हो····

सुनते-सुनते सो जाऊँ मैं,
मुग्ध स्वप्न में खो जाऊँ मैं,
सिर्फ़ तुम्हारा हो जाऊँ मैं !
: काश ! इसी अभिलाषा तक
अपने को सीमित रक्खा होता !

किन्तु आह !
मैंने तुमको छूना चाहा, अपनाना चाहा !
जो तुमको दे दिया, उसे पर्याप्त न पाकर,
पाना चाहा !

तो
मेरी फैली बाँहों में शून्य घिरा,
सिकुड़े माथे, उलझे बालों में दबी चेतना पर
सहसा यह बोध तिरा :

जिसको मृदु लोरी समझा था,
वह दूर रेडिओ पर बजती कर्कश, निर्जीव प्रभाती थी ।
जिसको 'अपनाना' जाना था,
वह मेरा एक बहाना था ।
जीवन जिसको माने बैठा,
वह, सचमुच, महज़ अफ़साना था !

अब भी नहीं

विह्वल उन नयनों के घिरे हुए मेघ,
अनकौंधी विजलियाँ,
दृश्य : चुप-चुप झर-झर का !

व्याकुल उन प्राणों का तरंगाकुल सागर,
छटपटाती मछलियाँ,
स्वर : लहरों पर पछाड़ खाती लहर का !

तप्त उस जीवन का विराट हहराता मरु,
दहकती शिलाएँ....
आः ! कैसा है तुम्हारा वक्ष, अब भी नहीं दरका !

सूरज डूब चुका है

सूरज डूव चुका है,
मेरा मन दुनिया से ऊव चुका है।

सुवह उषा-किरनों ने मुझको यों दुलराया,
जैसे मेरा तन उनके मन को हो भाया,
शाम हुई तो फेरीं सवने अपनी वाँहें,
खत्म हुई दिन-भर की मेरी सारी चाहें,
धरती पर फैला अँधियाला,
रंग-विरंगी आभावाला सूरज डूव चुका है,
मेरा मन दुनिया से ऊव चुका है।

फूलों ने अपनी मुसकान बिखेरी भू पर
दिया मुझे ख़ुश रहने का सन्देश निरन्तर,
ज़िन्दा रहने की साधें मुझ तक भी आयीं,
शाम हुई, सरसिज की पाँखें क्या मुरझायीं–
मन का सारा मिटा उजाला,
धरती का शृंगार निराला सूरज डूव चुका है,
मेरा मन दुनिया से ऊव चुका है।

सुरभि, फूल, बादल, विहगों के गीत नशीले,
बीते दिन में देखे कितने स्वप्न सजीले,
दिन-भर की ख़ुशियों के साथी चले गये यों,
बने और बिगड़े आँखों में ताश-महल ज्यों,
घिरा रात का जादू काला,
राख बनी किरनों की ज्वाला, सूरज डूव चुका है।
मेरा मन दुनिया से ऊव चुका है।

ग्रीष्मागम

अब दिन भारी हुए !

प्यास के मारे
पशु बेचारे
दर-दर भटकेंगे । अटकेंगे तृण-तृण पर ।
माथा-सा पटकेंगे
जब सूख चलेंगे
ताल-तलैये-कुंए ।

वृक्षों ने जो
थे श्रृंगार किये दो दिन पहले
वो
बिखरेंगे प्रत्येक दिशा में—
लेंगी लपटें जब
निष्ठुर-निर्दयी हवाएँ और आँधियाँ, लुएँ !

इन सब से निस्संग—
मदिर, अम्लान, मुक्त, मधुरंग—
कहाँ रह पायेंगे मेरे संवेदन !
अलसायेगा यह मेरा मन ।
गायेगा, पर कुम्हलाये-से जान पड़ेंगे क्या
वे सारे भाव ! —कि जो लगते-से थे—
हैं युग-युग से अनछुए !

अब दिन भारी हुए !

दिन

नहीं कल-कूजन : महज़ बरतन खड़कते,
टोस्ट-मक्खन-चाय के सँग
सुबह बासी थी।
जागने पर वही हर दिन की उदासी थी।
आज भी दिन
रोज़ ही जैसा !

वही पैडिल, वही सड़कें, दस बजे का शोर,
वही ऑफ़िस, वही फ़ाइल, वही सब-कुछ 'बोर',
वही बंसल, वही टण्डन, बहस अखबारी,
अनकही लाचारियाँ, अनजान तैयारी।
आज का दिन !—
सभी कुछ वैसा।

बुझी आँखें, झुकी पलकें,
झिझकते-से पैर,
राह घर की
विवश, भीड़-भरी, अवांछित, ग़ैर।

तभी सहसा
घरों और इमारतों के,
तरुदलों के,
नील नभ के
बन्धनों को काटकर उठता—

दिखा गोला चाँद का, ज्यों दहकता शोला।
दूर छिटके कई तारे चिनगियों जैसे····

थका-सहमा एक नन्हा-सा पखेरू
उमगकर बोला—
कार्तिकी पूनो ! कार्तिकी पूनो !
आज के दिन,
हुआ यह कैसा !

○

चैत का गीत

चैत में कटी है जौ।
मेहनत ने किया काम
बिकी फ़सल, लगे दाम
जुटे खरीदार, साहूकार
मिले रुपये सौ।

नन्हे जेठुअई धान
खड़े हुए सीना तान
परती खेत 'अबके असाढ़' में
जुतेंगे औ'।

घटती है, बढ़ती है
मुड़ती है, चढ़ती है,
दीवट, ओसारे में, की
जागती-मचलती लौ।

फूस का बड़ा छप्पर
खाली है, सोएँगे सब बाहर;
बछिया से तनिक परे
सहन में बँधी है गौ।

मुखिया, सरपंच, लोग!—
जुटा नहर पार ज़ोग :

चंग और डफ बाजे
घुंघरू में आयी रौ।

नक़लें औ' रागरंग
देख, सभी हुए दंग
आयो जब सुध, जाना—
पूरब में फटती पौ।

७

डूबनेवाला

पार किये नाली, नाले, तालाब, नदी भी
चला सिन्धु की ओर
सोचकर :
अगर डूबना ही है तो
नदिया-नाले से अच्छा है—
समुद्र में डूबे :
नाम बड़ा है ।
(नाम बड़ा होगा उसका भी ।)

चला डूबने सिन्धु-किनारे,
लेकिन जैसे ही तट पर पहुँचा…तो
गर्जन सुनकर होश उड़ गये,
लहरें देखीं—पांव मुड़ गये,
सरपट वापस भागा :
आकर कूद पड़ा गन्दे नाले में !
ऊपर से नीचे तक
कीचड़ से लथपथ हो गया ।
और तब साँस लगी घुटने…

हाय, दम तोड़ा उसने !

लकीरके फ़कीर

हम फ़कीर हैं इस लकीर के ।

यह लकीर बच्चे की गुड़िया,
यह लकीर जादू की पुड़िया,
खूसट बुढ़िया हैं लकीर यह,
सदा सुहागिन की यह चुड़िया,
मन्त्र नहीं इसके काटे का,
बीत गये अब दिन कबीर के ।

जो लकीर कबिरा ने तोड़ी,
वह रवीन्द्र ने फिर से जोड़ी,
'कबिरा' को 'कबीर' बनवाया।
—ऐसी थी जो पुख्ता-पीढ़ी—
हवा महल के रहनेवालो !
क्या जानो सुख उस कुटीर के !

श्रवण, कीर्तन, जप-तप नाना
से रहस्य हमने यह जाना—
शरणागत को मुक्ति मिलेगी,
विद्रोही को नहीं ठिकाना !
बड़े पुराने पण्डे हैं हम
गंग-जमुन के पुण्य तीर के !

हम फ़कीर हैं इस लकीर के ।

हृदय

अपने सरस, उदार हृदय को
जितना भी सम्भव था उतना मैंने दुहा,
निचोड़ा ।

सत्त्व खींच लेने पर भी
जो शेष बचा होगा—वह भी ले लिया,
नहीं कुछ छोड़ा ।

फिर उस शुष्क हृदय को मैंने व्यर्थ मानकर
रिक्त उपेक्षा, तिक्त व्यथा से
तोड़ा और मरोड़ा

जो टपका वह लहू नहीं था...

रस की धारा थी, अमृत था—
जिसने क्षत-विक्षत घावों को भरा और
टूटे भावों को जोड़ा ।

छूट गये

पथ ही नहीं, मित्र !
पथ के जितने भी थे सम्बल
सब छूट गये।

जैसे : क्षण-दो क्षण गाना
फूलों संग बातें करना,
यों ही कुछ भूले-भूले रह
खुद
मन का ताप और क्लेश
सब कुछ हरना।
आँखों में मुसकाना,
पैरों में गति के मृदु भाव
अपरिचित भरना !

छूट गये, छूट गये,
सपने सब····

दो जगहें

हम ऐसे घर में रहते थे,
जो खँडहर-जैसा दिखता था।
यह खँडहर था एक गली में,
कच्ची, सीलन-भरी, अँधेरी।
और गली ऐसे क़स्बे की
धूल-भरा जो, फीका, अनगढ़।

फिर हम एक नगर में आये,
अद्भुत जगर-मगर में आये।
होठ सभी के रँगे हुए थे,
चमचम जूते, लक़दक़ कपड़े।
सजे केश, आभूषण सुन्दर,
चिकने-सुथरे फ़र्श, सुघर घर।
तेज़ भागती मोटरकारें,
साइनबोर्ड, पोस्टर ताज़े।
शीशा, शीशम, निकल, प्लास्टिक—
मोहक आकारों में सज्जित।

हम बिलकुल हैरान रह गये—

कभी हमें 'वह' सपना लगता,
कभी हमें 'यह' सपना लगता।
कभी झूठ हम इसको कहते,
कभी 'झूठ' कहते हम उसको।

'उस' पर कितनी धूल जमी थी,
कैसी घुटन और जर्जरता।
'इस' पर आभा, पॉलिश, रोग़न
सब-कुछ नया-नया, चमकीला।

फिर कुछ और निकट से देखा,
इसको निरखा, उसको परखा;
तब जो ज्ञात हुआ वह यों था—

इसकी पॉलिश उसको रूखा करके आती थी,
उसकी कान्तिहीनता इसकी चमक बढ़ाती थी।
इसका रोग़न उसे धूलि-रंजित कर देता था,
उसका खँडहर यहाँ महल निर्मित कर लेता था।
इसकी सभ्य-भावना उसका जीवन हरती थी,
उसकी निष्क्रियता इसमें नूतन गति भरती थी।

इसीलिए,
दोनों-के-दोनों
झूठे, ग़लत, असत्य, असंस्कृत,
गन्दे, दूषित और अनैतिक
हमें लगे। ...... पर :

अब हम यह भी जान चुके थे—

—बेशक, झूठे और ग़लत ये!
लेकिन इनसे अलग, कहीं
वह 'झूठ' और 'ग़लती' है, जिसने
गति को :

उस गति को, जिसकी स्वाभाविक गति है
प्रगति—स्वस्थ, चिर, नूतन :

उसको–

दो विपरीत दिशाओं में बढ़ते रहने को
बाध्य किया है।
काश ! तुला में खोट न होती।
पलड़ों में पासंग न आता।
जितना काँच बटोरा था,
वह फेंक,
माँगते सच्चा मोती।

खरी-खोटी

जो नया है आज
वह सब कल पुराना होएगा,
जो गया है आज,
पल में विस्मरण में खोएगा—
इस तरह की बात
जो हर वक़्त कहता फिर रहा,
हाथ से जाता ज़माना
देख, वह खुद रोएगा।

'अ' और 'इ' संवाद

अ— सारे दर्पणों को तोड़ देना चाहिए
क्योंकि या तो वे आत्मरति को बढ़ाते हैं, या....
इ— स्वयं अपने ऊपर आपका गुस्सा चढ़ाते हैं।
अ— मन ऐसा सबसे बड़ा 'वैसा' दर्पण है।
सो उससे ही शुभारम्भ किया जाय तो कैसा?

इ— पहले हो गये हैं जो,
वे भी कह गये हैं यों....
अ— कि?
इ— 'ऐसा यदि मैं जानता कि
जायेगा तू विषय के संग,
ए रे मेरे मन!
हाथ-पांव तेरे तोड़ता!'

अ— पहले से अब थोड़ा अन्तर अवश्य है—
मन के अंग-भंग कर देने से लाभ नहीं,
मन को मारने पर भी खास कुछ बनेगा क्या!
इ— फिर उसे तारने की और क्या युक्ति है?
अ— युक्ति तो है, और उसके समर्थन में
उक्ति भी है कि:
मन का आत्मरतिवाला सुख छोड़ देना पड़ेगा।
इ— और: 'अपने ऊपर स्वयं आपके गुस्से' वाला दुख भी?
अ— उसे भी।

इ— या फिर
उस सबको छोड़ दें—
जिसका दर्पण मन है,
और जो छूटे तो छूटे,
तोड़ने से तो टूटती ही नहीं।

अ— क्या
दर्पण में झलकनेवाली छवि को?

इ— हाँ, उसे ही! क्योंकि :
मन का दर्पण भले ही दरार खा जाय,
चूर-चूर हो जाय;
तब भी रहेगी छवि।

अ— आओ, आओ, भंगुर दर्पण को छोड़ें, और
छवि को अपनायें।

इ— नहीं, नहीं!
तब तो हम दर्पण हो जायेंगे,
दर्पण है वही : जो कि छवि को ही दिखलाता।

अ— आओ फिर छवि बनें!

इ— छवि होते : तो होते,
बनना असम्भव है।

अ— और सब असम्भव।
सिर्फ़ एक बात सम्भव है।

इ— मैं भी सुनूँ—वह क्या?

अ— 'चुप' रहना।

इ— नहीं, नहीं! यह तो सबसे अधिक
असम्भव है!....

दोनों— चुप नहीं रहेंगे अब।
कितना-कुछ कहना है :
हम तो कहेंगे सब !
बढ़े आत्मरति, बढ़े !
चढ़ता हो गुस्सा अपने ऊपर,
तो चढ़े !

गंगाघाट (कानपुर) : सितम्बर

गंगा के तट से कुछ दूर पर
वर्षा का पानी अब भी जमा,
मन्द-मन्द डोलती बयार ही
बोल रही
और शेष सब थमा।

गायें-भैंसें कुछ हैं चर रहीं,
बगुले दो, ध्यान लगा ऊँघते,
नन्हे-मुन्ने पंछी उड़ रहे,
चरवाहे इधर-उधर घूमते।

'काँव-काँव' कर डैने फैलाती,
'फड़-फड़' से सूनापन गहराती—
गंगा की ओर उड़ी मुर्ग़ाबी,
उधर—जहाँ नाव एक लहराती।

धरती पर उगता-उगता अंकुर,
पानी में आधा डूबा पीपल,
दूर—जहाँ तक भी जाये निगाह—
हरे-भरे पेड़ों की पाँत अचल।

इतने में, सीटी दे ट्रेन चली,
धीरे-धीरे गंगा-घाट गया...
मन छूटा पीछे, उफ़ ! आगे है—
वही शहर, वही भीड़, वही...
—जहाँ कुछ भी तो नहीं नया।

घर में बरसात

घिरे-भरे मेघों की आज हुई जय !

आँगन में थाली पर बूँदों का शोर,
भर गयी कटोरी, वाह ! बरखा का ज़ोर
खिड़की के शीशों पर पानी की बूँद,
माताजी ध्यानमग्न आँखों को मूँद,
तुलसी के पौदों में जान भर गयी,
बूँदकी कटारी में सान धर गयी,

बिरही बिसूरेंगे, इतना है तय !

जून बीत गया औ' जुलाई आ गयो,
सावन की सोचकर रुलाई छा गयी,
कैसे बीतेंगी बालम बिन रतियाँ
धीरज क्या देंगी परदेसिन पतियाँ—
भाभी यह सोचकर उदास हो गयीं,
दिन के सपनों में चुपचाप खो गयीं,

बरखा का नहीं, हाय ! बिरहा का भय !

कोने में उगी हुई तुरई के फूल,
बूँदों की मारों से गये झूल-झूल,
टीनों पर रिमझिम का शोर छा गया,
आँगन में 'टपक-टपक' ताल आ गया,
खम्भे के ऊपर की भूरी गौरैया
पानी में नाच उठी 'ता ता था थैया',

बूँदों के नर्तन में रागों की लय !
घिरे-भरे मेघों की आज हुई जय !

ऋतु-नायिकाएँ

मन्थर गति से आ जाती है
मधुऋतु ।
अग-जग में सारे
छा जाती है
मधुऋतु ।
बस, जैसे यौवन मृदु मुग्धा के अंगों
को
चुपके रँग जाये अनहोने रंगों ।
—वैसी ही मन्थर गति से ।

'चंचल पग' धरती पर धर वर्षारानी—
वन-वेली से, नद-नदियों से मनमानी
करती,
ज्यों प्रौढ़ा पति से ।

दोनों नव-वधुएँ—
शीत और आतप की—
दोनों ही वधुएँ
बहकी-बहकी दिखतीं,
डूबी-सी रस में,
नहीं अपने भी बस में !
मदमातीं-शरमातीं,
प्रगल्भ होकर भी लजातीं—
जैसे मध्या रति से ।

पत्नी-नायिका

वह चाँद गगन में, देखो तो, ऊँघा,
वेजान, साँप का लगता है सूँघा,
ऐसा—जैसे नीले नभ पर कोई
अनजानी और अशुभ छाया सोयो।
हम दूर नज़र से उसकी हो जाएँ,
आओ, बाँहों में बँधकर खो जाएँ।

धरती के सारे प्राणी गुमसुम हैं,
शायद अब जाग रहे बस हम-तुम हैं।
बच्चे? वावूजी? भाई? माताजी?
संकोच-विघ्न सब दूर करो, ओ जी!

सोचो : मैं जबतक पास तुम्हारे हूँ,
लगता—पाये अनगिनत सहारे हूँ।
कुछ ठीक नहीं, कल कैसी बीतेगी,
कमज़ोर ज़िन्दगी कबतक जीतेगी!

घुटकर, चुप रहकर, या हँस-मुस्काकर,
रो-धोकर, किसी तरह मैं करूँ गुज़र;
लेकिन थकान बढ़ती ही जाती है,
घटती-घटती-सी यौवन-बाती है।

चुम्बन थकान को फिर भी हरता है,
कुछ जादू-जैसा मन में भरता है।

आलिंगन तन में आग लगाता है,
जीवन में थोड़ा रस उपजाता है।

इसलिए बाहु में एक बार कस लो,
इन रूखे-सूखे अधरों को रस दो।
दो क्षण के सुख से तोड़ो मत नाता,
जीवन हर पल भारी होता जाता।
ऐसी भी क्या जल्दी सोने की है!
यह वेला क्या यों ही खोने को है!

कैसी-कितनी बातें

उफ़, कैसे वे दिन थे,
कैसी शामें, कैसी रातें थीं !
कैसी सुबहें, कैसे पल-छिन,
कैसी-कितनी बातें थीं !

ठगे-ठगे हम रहे देखते,
दृश्य अचानक बीत गये।
एक गीत होंठों पर उभरा,
गाकर हम
बस, रीत गये।

वीतराग का गीत

१

इस अत्यन्त व्यवस्थित मन में
कोई भी उलझाव नहीं,
कोई जटिल समस्या घेरे हुए नहीं
कोई दिग्भ्रम का भाव नहीं।

२

एक लकीर पकड़ ली,
उस पर चलते-चलते चलते हैं।
नहीं किसी से जलते,
अपने सीधे-सादे रहते,
छलते नहीं किसी को,
कल्पित दुख से गलते नहीं,
दयावश नहीं पिघलते हैं।

३

हँसते हैं तो संयत होकर,
रोने का प्रसंग ही क्या!
मन्द-मन्द मुस्काते हैं,
मुँह-ही-मुँह में हम गाते हैं।
रंग जमाये रखते हैं,
इसके अतिरिक्त ढंग भी क्या!

४

ऐसा कुछ भी प्राप्य कहाँ था,
जिसे न पाते मर जाते !
जीते रहे मज़े से अपने।
सुख की मदिरा पीते-पीते
छकते रहे।
बहककर अकसर बकते रहे।
और फिर अपने हाथों
अपने मुख को सीते रहे।

५

कभी बहकते होंगे,
अब तो 'सोबर', हैं।
कभी चहकते होंगे,
उड़ते-मुड़ते,
और बिछुड़ते होंगे....शायद....
अब तो महज़ छोत-भर गोबर हैं।

लेकिन—

'ओहो ! खाद बनेंगे,
सड़ें-गलेंगे ! उपजाएँगे अन्न !'—
ऐसा सोच-सोचकर भी तो हम हैं
नहीं प्रसन्न।

खिन्न नहीं, उद्विग्न नहीं,
औरों से कुछ भी भिन्न नहीं !
हम पूरमपट्ट बरोबर हैं।

६

हिमगिरि की ऊँचाई से ज्यादा ऊँचे हम,
सागर से भी गहरे हैं :
इस भ्रम में रखना सबको
कुछ दिन की खातिर सम्भव था।
पर उसके बाद ?
स्वयं हम अपनी कल्पित ऊँचाई-गहराई से
अभिभूत हुए।
फलतः—
थे जहाँ
वहीं पर ठहरे हैं।
सभी विवादों-प्रतिवादों के प्रति
हम लगभग बहरे हैं।

७

राग नहीं, अनुराग नहीं,
इस चित्र-विचित्र जगत में अपना कोई,
कुछ भी भाग नहीं।
सबको अस्वीकृत करते,
बदले में अस्वीकृत होते।
अर्जित करते नहीं, पास जो था निर्मम होकर खोते।

८

अस्फुट स्वर में कभी-कभी हम अपने से ही कहते हैं—
चिनगारी तो थी, पर उससे
ढेर राख के जीत गये,

वीत रहा यों तो कुछ अब भी,
दिन थे कुछ जो वीत गये,
एक गीत था,
उसको गाकर नहीं,
भुलाकर—विसराकर
हम रीत गये।

मैंने चीन्ह लिया

तुमने उस जादू को
पल-भर में बीन लिया।

जहाँ अभी किरणें थीं,
जहाँ इन्द्रधनु था
और
जहाँ अभी किन्नरियाँ तन्मय हो गाती थीं....
वहाँ गीत को तुमने
होठों से,
यही नहीं : प्राणों से छीन लिया !

तुमको ओ शून्य !
उसी पल मैंने चीन्ह लिया !

वह संसार

छत की ऊँची दीवार !
के पार
का संसार !
कैसा है ?

क्या वहाँ भी धूप सिर्फ़ दस मिनिट को ही
ठहरती है ?
क्या वहाँ भी किसीको
धूप की बिदा के बाद
हवा के बहाने
अकेलापन
आकर डसता है ?
रेंगता, कसकता है ?

क्या वहाँ भी कोई ?–
सब ओर छाये हुए अथाह सागर में
फूटी गागर-सा उतराया, डूबा है ?–
वहाँ–
छत की ऊँची दीवार !
के उस पार !

नियम

दस बजने से पहले रोज़
एक दुविधा-सी उठती है मन में—
क्या ऑफ़िस से छुट्टी लें,
इस दिन को किसी और तौर से गुज़ारें ?

दफ़्तर का काम पाँच बजे ख़त्म होने पर
उलझन-सी एक
रोज़ हम पर छा जाती है—
इसके बाद ? क्या करें ?
यहाँ से कहाँ जाएँ ?

आने की जगह एकमात्र दफ़्तर क्यों है ?
और घर
एकमात्र जाने की जगह क्यों ?

सोचते-विचारते हैं,
और कितना अकुलाते हैं ।
नियम से दफ़्तर आते,
उससे भी अधिक नियमपूर्वक घर जाते हैं ।

पूरापन

१

(मैं अपनी बाँहें लिये बैठा रहा। छज्जेपर फुदकती गौरैया तो बँधी नहीं। बसमें अगली सीटपर मुसकाती नन्हीं बच्ची भी नहीं। और, ढेर-सी तितलियोंमें-से एक भी नहीं। मन्द-मन्द डोलती-थिरकती हुई हवा भी नहीं। मैं टुकुर-टुकुर देखता और कुढ़ता-मचलता रहा, क्योंकि, बाँहें थीं।)

बाँहें थीं।
लेकिन जब बाँहों में बँधने को
कोई भी, कभी
नहीं आकुल-व्याकुल हुआ।

तो मैंने सोचा—
ये बाँहें हैं....
क्या यों ही,
यों ही रह जायेंगी ?

बाँध नहीं पाया मैं इनमें किसी को, तो
आओ, अब इनसे सभी को मैं बाँध लूँ;
आया नहीं कोई इनकी परिधि में, चलो
इनकी परिधिको थोड़ा और विस्तार दूँ।

२

(: हाथ फैलाये उधर बैठी अन्धी बुढ़िया। और, दफ़्तर-जाते पिता को 'टा-टा' कहता हुआ शिशु भी। नीले आकाशपर बहता-बहता स्वर्ण-मेघ और पगडण्डीपर निश्चिन्त गतिसे चलती चींटियोंको पंक्ति। यह

और वह, और बहुत-कुछ ऐसा था, जो बाँहोंकी बढ़ी हुई अवधिमें समा सका। लेकिन :)

कुछ था ऐसा अभाव
जो पूरा हुआ नहीं।

बाँहों ने बाँध लिया यों तो काफ़ी-कुछ को,
लेकिन खुद मुझे बाँधने में वे असमर्थ हुई।
बिखर-बिखर जाता था,
उनमें न समाता था;
मैं खुद
अपनी बाँहों से कुछ घबराता औ'
बहुत छटपटाता था :

बाँहों में अपनी,—
बस एक मैं, नहीं आया।
क्योंकि—
प्यार अपने को, मैं, न कभी कर पाया।

३

(जो भी प्रिय लगा, उसे बाँहोंमें समेट लिया। लेता, बाँधता, ग्रहण करता और पाता रहा, क्योंकि मुझमें चाह थी। पर रह गया अछूता ही क्योंकि जो भी विकलता थी मुझमें—देनेकी—उसे स्वीकार करनेको तत्पर कौन था? दे नहीं सकूँगा तो रहूँगा अधूरा ही। और सुख···)

····सुख का क्षय हो न जाय,
जो अपना दिखता है,
खो न जाय····
ऐसा भय हर सुख को भोगते समय

मुझको लगा किया !

मैंने सुख लिया,
किन्तु उस सुख का भोग नहीं किया।
अस्तु मैं भी अधूरा रहा, सुख भी अधूरा ही।

फिर
मैंने अपने को, बाँहों को,
बाँहों में बँधे पड़े सब-कुछ को
दिया।

और तब जाना यह—
देना ही मिलना है,
और वही पूरा सुख।
और वही पूरापन।
शेष सब वञ्चना !

तरुवर

धूप और लू से
ढक, भर, घिर जायेगा जब कोना-कोना,
उद्धत पेड़ों को अन्धड़ भरपूर तमाचे मारेगा,
मृदुल गात, नवजात वनस्पतियों को भी ललकारेगा,
राख बना देगा उस सबको
जो था अब तक सोना····

तब भी
अमलतास फूलेगा,
गुड़हल रक्तबीज-सा
तत्पर हो झंझा के झोंकों में
झुक-झूम, झूम-झुककर झूलेगा।

जन्म मिलेगा
नये फूल को, नव ऋतु को।
नव आकांक्षाओं का तरुवर
भू से उठकर अधर, अधर से नभ, सत्वर छू लेगा।

नीम की टहनी

नीम की टहनी
फली-फूली हुई देखी
लिखीं बातें तुम्हें वे जो कि थीं कहनी।

बात मैं उस व्यथा की कह रहा था
जो पड़ी मुझको तुम बिना सहनी।
अस्त-व्यस्त विचार मेरे कर न पायी थी
अजी, फूलों लदी वह
नीम की टहनी।

किन्तु देखे पुष्प झरते हुए
अनगिन,
रोक पाया मैं नहीं मन को,
अरे, इस भाव के बिन—
प्यार का संसार कह लो,
प्रीति का आगार कह लो,
कहो जो कुछ :
आह, वह सब बहुत अस्थिर
लौह की दीवार जैसी दृढ़ बताती थीं जिसे तुम—
जायगी गिर,
वही मेरे औ' तुम्हारे प्यार की प्राचीर
कुछ दिन बाद है ढहनी।
और तब मैं लिख गया :

सच है—हमारी औ' तुम्हारी प्रीति
ज़्यादा दिन नहीं रहनी।

अस्त-व्यस्त विचार मेरे कर गयी सब
जब झकोरे में हिली
फूलों खिली वह
नीम की टहनी।
भई, मैं क्या बताऊँ,
चाहता था भाव मन के
दूसरे ही कुछ जताऊँ,
किन्तु फूलों से लदी, व्याकुल बनाती,
झूमती, झकझोरती, झरती हुई वह
नीम की टहनी !
उसे मैं क्या करूँ !!

और ही कुछ कथाएँ

न आँखें तनिक निंदियारी,
न पलकें बोझ से भारी,
मगर सपने सुनहले, रुपहले, उजले :
वही हैं ।

ग़लत हों रास्ते सारे,
क़दम सब ओर जा, हारे;
मगर ये चिह्न : चरणों के ?
अरे, ये तो :
सही हैं ।

वही है रेत-सा तन-मन,
वही उजड़ा हुआ जीवन,
मगर जो सरल, कोमल, तरल धाराएँ
वही हैं:
उन्होंने और ही कुछ कथाएँ
हम से कही हैं ।....

अंकन

[परिमण्डल, अनुभूति, रचना]

१

दुनियाकी रफ़्तार

एक्केपर चौक जाना हुआ। साथमें एक बुजुर्गवार बैठे थे। यूँ ही बातें चल रही थीं। एक्केवाला न जाने अपने किस पड़ोसीका क़िस्सा छेड़े था। बुज़ुर्गवार बोले, "दुनिया कितनी रफ़्तारसे बढ़ती चली जा रही है। हर एक पहलूको देखिए, पहलेसे न जाने कितनी अधिक उन्नति हो चुकी है। एक नया ज़माना आ गया है, लेकिन साथ-ही-साथ हमारी परेशानियाँ और मुश्किलें भी कितनी बढ़ गयी हैं। हाल वही है, जैसे किसी रईसके घर दावत हो। ख़ूबसूरत मेज़ें और कुरसियाँ लगी हों, चारों तरफ़ अर्दली हाथ जोड़े खड़े हों, एक आलम-सा छाया हो—और सब-कुछ होते हुए भी खाना नदारद हो। वही हालत है आजकल हम लोगोंकी। सुनते हैं कि जितना भी पुराना था, वह सभी बदल रहा है, बल्कि बदल चुका है; लेकिन इन-सानकी मजबूरियों और तकलीफ़ोंकी तरफ़ देखिए! वे तो पहले-जैसी ही हैं!....उलटे कुछ और बढ़ गयी हैं।"

२८ सितम्बर १९४८

२

ज़बर्दस्त दोस्त

मेरे दोस्त ऐसी-ऐसी बहसें करते हैं कि कोई सुन ले तो होश खो बैठे। अभी आकाश और अभी पाताल, अभी साएन्स और अभी अगिया-बैतालकी बातें मैं इनसे सुनता हूँ और हक्का-बक्का होकर सोचा करता हूँ कि ये मेरे

छोटे-मोटे, दुवले-पतले दोस्त कैसे ज़बर्दस्त हैं कि इन लोगोंने दुनिया-भरका ज्ञान अपनेमें भर लिया है और उसे जब-तब संगी–साथियोंके बीच विखरा देते हैं।

७ जनवरी १९५१

३

आवाज़

सुबह हुई। छतपर-से मैंने सुना। वे चीखकर कह रहे थे, "यह नागिन सबको डसकर ही चैन लेगी !" मैंने एक लम्बी सांस भरकर सोचा–चलो, आजका दिन अच्छा शुरू हुआ। सुबह-सुबह नागिनके डँसनेकी खबर सुनना तो अच्छा शकुन है।····लेकिन मुझे अधिक देर सोच-विचारका मौक़ा नहीं मिला। वे भी, चौकेमें-से, अपने तीखे स्वरमें कह रही थीं—आग लगे इस निखट्टूको, घरमें पड़ा-पड़ा रोटियाँ तोड़ता है, न किसी कामका न धाम का ! उनकी आवाज़में बरतनोंकी खड़कन डूब गयी थी।

मैं भारी क़दमोंसे ज़ीनेकी तरफ़ बढ़ा और नीचे उतर आया। नीचेके कमरेमें बाहरकी कोई आवाज़ नहीं सुनायी देती। चलो अच्छा है !

लेकिन आवाज़ न सुननेसे, आवाज़ बन्द तो नहीं हो जाती। सुनते हैं कि आवाज़ उठती है तो रुकती नहीं, दर-दीवारको बेधती हुई सारे वातावरणमें व्याप जाती है। लेकिन कैसी विडम्बना है कि जो बात हर नेक और बुलन्द आवाज़के लिए सच है वह गृह-कलहकी आवाज़के लिए भी उतनी ही सच है।

१६ मई १९५१

४

स्मृतियोंके तार

कुछ रुपये जमा करने थे। पोस्ट-ऑफ़िस जाना हुआ। सेविंगसकी खिड़कीपर बैठा क्लर्क एक निहायत खूबसूरत नौजवान था। उमर होगी

मुश्किलसे तेईस-चौबीस साल। रंगीन कमीज़ और शोख रंगका पैण्ट पहने था। बात-बातमें होंठोंपर-से मुसकराहट फूटी पड़ती थी। खिड़कीपर काफ़ी भीड़ थी। मैं भी जाकर शामिल हो गया। वक़्त रहा होगा कोई बारह बजेका। उस खिड़कीपर खड़े होकर रुपया जमा करने या निकालनेवाले आदमी लगभग सबके-सब ज़िन्दगीकी मंज़िल खोजनेमें चूर हो गये-से दिखते थे। मेरे देखते-देखते एक अधेड़ सेज्जनने अपने सात रुपयेके बैलेंससे चार रुपये निकाले। मैंने उनके चेहरेको देखा तो अजब खयालात मेरे मनमें उभर आये। मैंने उनकी धँसी हुई आँखोंकी तहमें पैठकर यह सोचने की कोशिश की कि किस ज़रूरतसे मजबूर होकर उन्होंने अपनी छोटी-सी पूँजीसे चार रुपये निकाले। कि इतनेमें ही पोस्ट-ऑफ़िसके नौजवान क्लर्क की आवाज़ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। वह एक धोबीसे उलझ रहा था, "क्यों भाई बरेठा! सात दिनके लिए कहकर सत्रह दिनमें कपड़े लाते हो तो कुछ नहीं जान पड़ता, और दस मिनिटकी देर रुपया निकालनेमें हो रही है तो जान खाये डालते हो। यह भला कहाँका इन्साफ़ है!"

धोबीराम एक फीकी हँसी हँसकर बोले, "बाबू, हमें एक बजेवाली गाड़ी से बाहर जाना है। जो गाड़ी छूट गयी तो बाबू बरातका साथ नहीं होगा।"

नौजवान क्लर्क चहककर बोला, "क्यों जी, हमें अपनी बरातमें नहीं ले चलोगे?

धोबीने मुसकराकर पूछा, "आप बाबू, आप हमारी बरातमें चलेंगे? हमारे धन्य भाग!"

मोटी फ़ाइलोंमें आँखें गड़ाये हुए क्लर्क बोला, "क्यों, क्या तुम आदमी नहीं हो। अरे भाई, हम-तुम सब भाई-भाई हो तो हैं।"

खिड़कीपर जमा छोटी-सी भीड़में बेचैनीकी एक हलकी-सी लहर फैलती सी जान पड़ी जो शायद प्रकट रूपमें इन्तज़ारकी ऊबको व्यक्त कराती थी। लेकिन मैंने पाया कि तोंदधारी सज्जन कुतूहल तथा आश्चर्यमिश्रित उपेक्षासे क्लर्ककी ओर ताक रहे हैं। उनकी छोटी-छोटी आँखें कहती-सी

दिखीं कि तुम अभी बच्चे हो, खून गरम है। इसीसे ऐसी बातें कर रहे हो। तीन-चार साल घिसोगे तो मुँहसे सिर्फ़ झिड़कियाँ निकलेंगी, ये फूलों-जैसे बोल सपनोंकी बातें बन जायेंगे।

तोंदधारी सज्जनके मूक वक्तव्यमें मुझे सार तो खैर क्या दिखता, हाँ जीवनका एक बड़ा और कटु अनुभव ज़रूर जान पड़ा।

उधर सेविंग्सका क्लर्क खुशीसे दमक रहा था। उसने चहककर एक आवाज़ लगायी, "अमाँ शिवस्वरूप! वहाँ खड़े क्या अफ़ीम खा रहे हो। आकर अपने रुपये ले जाओ, नहीं तो आज हमारे घरकी अँगीठी तुम्हारे ही नोटोंसे जलेगी।"

क्षण-भर बाद ही नौजवान क्लर्कने खिड़कीपर खड़े एक बुज़ुर्गवारसे कोई हल्की-फुलकी बात कहनी चाही। उन्हें चचाजान कहकर पुकारा। लेकिन चचाजान कुछ बोले नहीं। गरम हवाके झोंकेने उन्हें शायद बहुत परेशान कर रखा था। एक छोटा-सा रूमाल उन्होंने कानोंके गिर्द लपेट रखा था जो इतना छोटा था कि हवाके हर झोंकेके साथ अस्त-व्यस्त हो जाता था। रूमाल सँभालते हुए उन्होंने अपने कामकी बात कही।

मेरा नम्बर आया तो मैंने झाँक कर देखा। क्लर्क महाशय कुछ लिख रहे थे। मैंने आश्चर्य तथा प्रशंसासे भरे स्वरमें कहा, "वाह साहेब, आपकी राइटिंग तो खूब अच्छी है।"

लेकिन पता नहीं क्या बात हुई कि इतनी देरसे मुसकराते हुए उस नौजवानका चेहरा मेरे इस एक वाक्यको सुनते ही उतर गया। उसने क़लम उठाकर एक तरफ़ रख दी और गहरी साँस भरकर कहा, "अब क्या राइटिंग है, भाई साहब! इस दफ़्तरकी रगड़-घसीटमें किसकी राइटिंग अच्छी रह सकती है! दो-एक साल पहले आप देखते तो क्या कहते!"

क़लम उठाकर सेविंग्सके क्लर्कने फिर काम करना शुरू कर दिया। लेकिन मैंने देखा कि उसका खुशीसे दमकता हुआ चेहरा उतर-सा गया था। मुझे अनुभव हुआ कि अब उसे बीती बातें याद आ रही होंगी:

पढ़ाईके ज़मानेकी बातें, मुक्तिके दिनोंकी बातें, अच्छी राइटिंगके दिनोंकी बातें। और अब उसे याद आते होंगे आजकलके दिन : ये गरमी, ऊमस और आलससे भरे दिन—अब रोज़ घण्टे-दर-घण्टे रुपया जमा करने और निकालनेवालोंसे उलझना पड़ता है।

रुपये जमा करनेके बाद लौटते समय मुझे अफ़सोस होता रहा कि देखो मैंने व्यर्थ ही अपनी अकारण प्रशंसासे एक खुश आदमीकी स्मृतियोंके तार छेड़ दिये और उसे उदास बना दिया।

१९ मई १९५१

५

आजका दिन

कितने दिन हो गये, लेकिन हँसी-ख़ुशीका एक भी क्षण निकट नहीं आया। सुबह, शाम, दोपहर : बस, किताबोंमें जुटे हुए हैं, जैसे पढ़-लिख कर अफ़लातून बन जायेंगे। ज्ञानके बोझसे दबे पड़े हैं, हँसना-मुसकराना क्या, बात करनेको भी मन नहीं करता। ऐसा पढ़ना भी किस कामका!

आज सोचा कि दिन-भर खुश रहूँगा, सो मोटी-ताज़ी किताबोंको परे हटाकर, सुबहसे चुटकुले पढ़ने शुरू कर दिये। पुराने अखबारोंकी फ़ाइलें उठायीं और हँसी-मज़ाक़वाले अंश फिरसे उलट डाले। शीशा सामने रखा; कोरे काग़ज़पर लाल-नीली पेन्सिलसे खुद अपने कार्टून बनाये। उन कपड़ों को पहना, जिन्हें धारण करनेपर मैं रंगीन फ़िल्मका हीरो लगता हूँ। बाहर निकल पड़ा। एक मित्र मिले। मेरी बाछें खिली हुई देखीं, तो रुआसी आवाज़में बोले, "कहो भाई, बात क्या है? बहुत ताज़े दिखायी दे रहे हो!" मैंने ठहाका मारकर उत्तर दिया, "दोस्त, आज तो हँसनेका प्रोग्राम है। लो, एक चुटकुला सुनते जाओ।" दोस्त अचरज करते हुए कुछ भुन-भुनाकर आगे बढ़ गये।

मैंने पार्कमें खिले फूलोंके साथ छेड़खानी की। बसमें बैठकर कॉन्वेण्ट जाते हुए बच्चोंको मुँह चिढ़ाया। दफ़्तर जानेवाले एक बाबूपर फ़िक़रा कसा। बनियेसे पूछा, "क्यों जी, तुम्हारी दूकानमें 'हास्यरसकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ' तो नहीं है?" उसने झल्लाकर कुछ कहना चाहा, तो मैंने झट-पट बात पूरी की, "मतलब यह कि रद्दीमें पड़ी हो, तो मुझे दे दो।" एक मोटे-ताज़े सज्जनकी तोंदसे जान-बूझकर साइकिल टकरा दी और खुद गिर पड़ा। उनसे कहा, "आपको अफ़सोस होना चाहिए कि मेरी साइकिल आपकी वजहसे चोट खा गयी।" वे सज्जन शरमाये और हिनहिनाकर हँसने लगे।

एक बँगलेके लॉनपर, धूपमें लड़के बैडमिण्टन खेल रहे थे। मैंने जाकर दोस्ती कर ली। बड़ी गम्भीरतासे कहा, "ज़माना गुज़रा साहब, बैडमिण्टन का मैं भी बड़ा शौक़ीन था। एक दिन खेलते-खेलते चिड़िया उड़ गयी, मुझे इतनी निराशा हुई कि बस, मैंने बैडमिण्टन खेलना छोड़ दिया।"

लड़के पुर-मज़ाक़ थे। एकने जवाब दिया, "जी हाँ, वही तो! आपकी चिड़िया उड़ते-उड़ते यहाँ भी आयी थी, लेकिन ठहरी नहीं। सामनेवाले बँगलेकी तरफ़ चली गयी।"

सबके-सब हँसने लगे। मैंने देखा कि सामनेवाले बँगलेके लॉनपर दो-तीन ऐंग्लो-इण्डियन लड़कियाँ चहलक़दमी कर रही हैं। अजीब-सा लगा, लेकिन सबके साथ मैं भी हँसा। फिर मेरे ब्रह्मने मुझसे कहा, "देखो बच्चू! लड़के तुमसे ज़्यादा तेज़ हैं। यहाँसे खिसको, नहीं तो काफ़ी बनाये जाओगे।"

साइकिल उठाकर मैं सरपट भागा। कार्टून फ़िल्म देखी, बे-अख्तियार होकर हँसता रहा। साराका-सारा दिन खूब रहा। खुशियाँ लौट आयीं। हफ़्तोंका घिरा हुआ भारीपन दूर हो गया। लगा, जैसे एक दिनमें ही उम्र दो साल कम हो गयी है।

१३ जनवरी १९५२

६

सर्वनाम शैली

वह भी क्या आदमी है ! सिर्फ़ सर्वनामोंमें बोलता है । कोई कहानी सुनानी हुई तो शुरूसे आख़ीर तक : 'उन्होंने यह कहा तो उन्होंने वह जवाब दिया, इन्होंने डण्डा उठाकर मारा तो उनकी नाक टूट गयी ।' बस यही उसकी बातका ढंग है । अब इसमें कोई क्या समझे कि किसने क्या कहा और किसकी नाक टूट गयी ।

पर मेरे हज़ार टोकनेके बावजूद उसकी यह आदत न गयी । बल्कि सुबह-शाम, हर वक़्त उसकी बातचीत सुनते-सुनते मैं भी सर्वनाम शैलीका उसीकी तरह अभ्यासी हुआ जा रहा हूँ । 'उसीकी' तरह ! नहीं, नहीं— रमेशकी तरह ।

८ फ़रवरी १९५२

७

इलाहाबादकी सड़कें

इलाहाबादकी सड़कोंपर चलनेवाले लोग अपेक्षाकृत कुछ अधिक गाते हैं । बड़ी अजीब बात है न ? पढ़ते-पढ़ते अचानक यह मालूम होता है कि बड़ी देरसे कोई मधुर-मन्द लयमें गीत गा रहा है और तब बड़ी देर तक मन उसी लयमें स्थिर रहता है, दूसरा कोई काम होता ही नहीं । तबीयत बड़ी उचटती है ।

यह शहर भी खूब है । हर क़दमपर गाँवोंकी निश्चिन्तताके दर्शन होते चलते हैं । चौककी व्यस्ततामें भी एक अजीब-सा ठहराव है, सिविल लाइन्स सोती रहती है : सुप्त सौन्दर्य !

ऐसे इस इलाहाबादकी सड़कोंपर बारहों महीने रातके गहरे सन्नाटेमें गीत सुनायी देते हैं, वे गीत जिनको सुनकर कलात्मक और युगप्रवर्त्तक

कविताएँ लिखनेके सारे अरमान धूलमें मिल जाते हैं। महादेवीने तो अपने अधिकांश गीत 'राह-चलते गायकों' से ही प्रेरणा पाकर लिखे हैं, फिर भी महादेवीमें कितना संस्कार है! गँवई-गाँवके गीतोंसे प्रेरणा पाकर भी भाव-भाषाको कहींसे भी 'भदेसपन' नहीं छू पाया है। महादेवीके गीतोंने वेदना तो लोकगीतसे ले ली है, शेष सब कुछ, 'पता नहीं कहाँसे' आया है!

रास्ता चलनेवाले तो खैर, आते हैं, चले जाते हैं; लेकिन छोटे-बड़े बँगलों और घरोंके आस-पास आउट-हाउसों और छोटी-मोटी झोपड़ियोंमें बसनेवाले ये गायक मुसीबत कर देते हैं। दिन-भर काम करनेके बाद जरूर गायेंगे। इन्हें कौन मना करे, कौन बताये कि तुम तो गा-बजाकर सो जाते हो, लेकिन बिजलीका टेब्ल-लैम्प जलाये और मेज़पर मोटी-मोटी गुरु-गम्भीर पुस्तकें सजाकर बैठे हुए 'बाबूजी'को तुम्हारे गीत सुनकर आधी-आधी रात तक नींद नहीं आती!

७ मार्च १९५२

८

फलों और बीजोंके शौक़ीन

हमारे एक दोस्त हैं: दोपहरमें बाज़ारसे पाव-भर फ़ालसे लायेंगे। कमरेकी खिड़कीपर या आलमारीकी दराज़में रखकर सो जायेंगे। दो घण्टे, तीन घण्टे सोते रहेंगे। बीच-बीचमें निश्चित रूपसे सोते-सोते बोलते रहेंगे, 'मीठे नहीं हैं''''फ़ालसे''''कच्चे''''चार पैसे छटाँक देना हो तो दो।'''' आदि, आदि। जब नींद टूटेगी तो निगाह सबसे पहले उधर जायेगी, जहाँ फ़ालसे रखे हों। वे उठकर जो सबसे पहला काम करेंगे वह है: आलससे झूमते हुए जाना और कोनेमें-से मुट्ठी-भर फ़ालसे उठाकर टूँगने लगना।

इतना ही नहीं, तरबूज़ खायेंगे और उसके बाद एकोएक बीज बीनकर रखेंगे। धो-धाकर बीजोंको एक बर्तनमें सहेजकर रख देंगे और फिर कुच-कुच करके तीन दिन चार दिन, जबतक सारे बीज खत्म न हो जायेंगे,

खाते रहेंगे। एक विया उठाया, दाँतोंके तले दबाया, 'कुच'…'किच'… और गूदी खाकर छिलका कभी फ़र्शपर, और कभी कमीज़ या पैण्टकी जेब में फेंका। और कभी कॉपी-किताबके खुले पृष्ठोंके बीच रख दिया।
१ मई १९५२

९

अमिट स्वर

एक लड़की चाटवालेसे बातें कर रही है। बातें करना क्या, उसे लगभग लड़ना कहा जा सकता है।

…"ये नीवूका रस तो है नहीं, और चाहे जो हो।"

"नहीं बीवीजी, टाटरी-तेज़ाबका काम हम नहीं रखते।"

"अरे वाह, तुम तो हमें ऐसा बताते हो जैसे हमने नीबू कभी चक्खा ही न हो।"

…"मुन्नूकी अम्मा ! आजकल ये भिखमंगे तो इतने बढ़ गये हैं कि बस।"

"बिटिया ! आध सेर आटा मिल जाये, इसीलिए दिन-दिन-भर मारे फिरते हैं।"

…"लाओ, लाओ, हमारे चार पैसे दो ! हम अभी बाज़ारसे पानीके बतासे मँगाकर खायेंगे।

…"तुम्हारा पानी कितना फ़ीका है। खाली जल भर दिया है। जीरा, पुदीना और अँबियाका नाम-निशान तक नहीं।"

…"हाय ! हमारी अँबिया सूखती होगी। हम जाते हैं, पना बनायेंगे। चलो मुन्नूकी अम्मा, चलें।…"

पायलोंकी झमक। बिजलीका-सा दमकता हुआ एक गोरा मुखड़ा घरके भीतर जा छुपा। दम साधकर, छिपकर, कोई बड़ी देरसे छवि निहार रहा था—अस्त-व्यस्त बाल, माँगमें सिन्दूरकी अस्पष्ट-सी रेखा, कानोंमें हलके

झूमर और नाकमें सोनेकी लौंग, हाथोंमें चूड़ियाँ और बस : थोड़ेसे आभूषणों में रूप जैसे समा नहीं पा रहा था। बिलकुल गोल चेहरा और निहायत खूबसूरत आँखें।

चोरी-चोरी देखनेवालेके नयनोंमें रूपवान् काया बड़ी देर तक समायी रही। काया आँखोंके आगेसे बड़ी देर बाद मिटी। लेकिन कानोंसे सुना हुआ स्वर अमिट हो गया। वह बराबर गूँजता रहा—'हाय, कितनी रद्दी चाट बनाते हो।' स्वर्ण झूमर, माँगका सिन्दूर, हाथोंकी चूड़ियाँ, गोल चेहरा, शुभ्र वर्ण—सब कुछ विस्मृत हो गया। पर चूड़ियोंकी खनक और झूमरोंकी लहर-जैसा वह स्वर, दूर देशमें घण्टियों और सितारकी झनकार सरीखी वह बोली अब हरदम इस चुपके-चुपके देखनेवालेके अन्तरमें बजती रहेगी। अबसे वह देखेगा नहीं, सुनेगा। जो स्वर मुखरित होकर शून्यमें खो गया, उसे इस व्यक्तिने अपनेमें सँजो रखा है। बस, उसी स्वरको सुनेगा, देखेगा नहीं।

८ जून १९५२

१०

दुविधा

आजके युगमें घटनाएँ इतनी जल्दी-जल्दी घटती हैं और प्रत्येक क्षेत्रमें इतनी शीघ्रतासे परिवर्तन होते हैं कि पहलेके बीस वर्षोंकी प्रगति आज एक-डेढ़में ही सम्भव हो जाती है। दुनिया बड़ी तेज़ रफ़्तारसे आगे बढ़ रही है। इसलिए लगता है कि आजके कलाकारके पास कहनेके लिए बहुत कुछ है, विषय-वस्तुकी उसे कमी नहीं। वह कहनेके लिए ढंग ढूँढ़ता है। फ़ॉर्मकी यह खोज प्रयोगशीलताकी प्रथम विशेषता है। यही कारण है कि आज बीसवीं सदीका कलाकार उतना अधिक और उतना शीघ्र 'टाइप' नहीं हो जाता, जितना कि पूर्वकालोंके कलाकार सामान्यतः हो जाते थे। आज कलाकारमें काफ़ी दूर और काफ़ी देर तक विविधता बनी रह सकती है।

उसके पास कहनेके लिए बहुत कुछ है पर कहनेका ढंग उसे नहीं आता। इसलिए और भी नहीं आता क्योंकि इस 'नये, प्रभावशाली या अभिव्यक्ति में समर्थ ढंगकी खोज' में ही आजके अधिकांश कलाकार अपनेको व्यस्त बनाये हुए हैं। डर इसलिए लगता है क्योंकि अकसर ऐसी दुविधाओंका परिणाम यह हुआ है कि राम और मायामें-से कोई भी नहीं मिला।
२४ अगस्त १९५२

११

बुड्ढोंकी आदत !

हमारे बड़े प्यारे दोस्त हैं। वे थोड़े-से क़िस्सोंको बार-बार सुनाते हैं। इन दोस्तके एक मामा बहुत अच्छे कहानी सुनानेवाले हैं : थ्री मस्केटियर्स का क़िस्सा हर्फ़-ब-हर्फ़ उन्हें याद है और सात बजे रातसे जो क़िस्सा सुनाना शुरू करते हैं तो रातके दो बज जाते हैं।

इन दोस्तके पड़ोसके बीसेक घरोंमें एक बार एक साथ आग लग गयी थी। बाँस तड़क-तड़ककर दूर जा गिरते थे और जहाँ गिरते थे वहीं आग लग जाती थी।

इन दोस्तकी एक मौसी किन्हीं बड़े आदमीकी लड़की थीं, शाही ढंगसे पली थीं, शादी होनेके कुछ वर्षों बाद ही विधवा हो गयीं, अब किसी स्कूल में पढ़ाती हैं। लड़का है—वह आवारा निकल गया। लेकिन आज भी मौसीने लेन-देन, नाते-रिश्ते, व्यवहार किसीमें भी कमी नहीं आने दी। हर काम बड़े क़ायदे और व्यवस्थासे होता है उनका।

हमारे बड़े प्यारे दोस्त हफ़्ते-दो-हफ़्तेमें कमसे-कम दो-एक बार तो ये क़िस्से ज़रूर दोहराते हैं और मुझे मजबूर होकर चुपचाप सुनना पड़ता है। मैं उस याददाश्तकी विचित्रतापर ताज्जुब करता हूँ जिसे दूसरेकी कही हुई अदनी और निरर्थक बातें तो याद रहती हैं लेकिन यह याद नहीं रहता कि ये कहानियाँ वे सुननेवालेको दसों बार सुना चुके हैं।

इतना ही नहीं, एक बात और भी वे मुझे बीसों बार बता चुके हैं कि उनके बाबाकी कुछ खास कहानियाँ हैं जो बाबा जब-तब सुनाया करते हैं। यह बात बतानेके बाद ही हमारे प्यारे दोस्त हमेशा यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बुड्ढोंकी आदत ही कुछ ऐसी होती है कि एक ही कहानी बार-बार दुहराते हैं।

मैं इन दोस्तसे अगर एक बार भी यह कह दूँ कि बुड्ढोंकी आदत हो या न हो : आपकी जरूर है—तो ये प्यारे दोस्त हमसे बहुत ही नाराज हो जायेंगे।

२८ अगस्त १९५२

१२

बौखलाहट

मामाजीके नवजात बच्चेको देखने कमला नेहरू अस्पताल गये। दूर कहीं शहनाई बज रही थी। उसपर यह फ़िक्र हुआ कि यहाँ तो चौबीसों घण्टे शहनाई बजती रहनी चाहिए क्योंकि यहाँ किसी-न-किसीको बच्चे होते ही रहते हैं।

पहुँचते-पहुँचते बदहवासीमें इधर-उधर लड़कियाँ-नर्सें-औरतें ही दिखायी दीं तो मैं बौखला गया। उलटी-सीधी बातें करने लगा। मैंने पूछा, "क्या यहाँ सब औरतें-ही-औरतें हैं ? मर्द किधर रहते हैं ?" इसपर बड़ा क़हक़हा पड़ा। मैंने झेंपकर कहा, "वाह, मैं तो भूल ही गया था कि यह जनाना अस्पताल है। क्या कहूँ, एक ही बार तो मैं यहाँ आया था : जब लीलाजी की शादी हुई थी।"

इस बातपर फिर हँसी हुई। "क्यों साहब, शादीके वक़्त आप इस अस्पतालमें क्या करने आये थे ?"

मैंने चटपट ग़लती सुधारी, "ओह ! शादी नहीं, जब उन्हें बच्चा हुआ था, तब मैं आया था।"

लोगोंने उस वक़्त और भी हँसना शुरू किया जब मामाजीने कहा कि लड़कियों-औरतोंके सामने रहनेपर हमारे भाञ्जे साहब कुछ बौखला जाते ही हैं।

मैंने मामाजीको बाप बननेके उपलक्ष्यमें बधाइयाँ दीं और कहा, "आप लोग यहाँ बैठे-बैठे ऊब रहे थे, देखिए मैंने आकर कितनी अच्छी-अच्छी हँसीकी बातें कीं। अब आप सब इन्हें याद कर-करके थोड़ी देर हँसिए, मैं घूमने जा रहा हूँ।

१४ अक्टूबर १९५२

१३

जड़ और पेड़

"शुरूसे ही यह सीख लिया कि कुछ भी मत सोचो-विचारो। सो नियम बना लिया कि चाहे देखो, चाहे सुनो, लेकिन मनमें विकार मत लाओ। निर्विकार बने रहो जैसे कुछ हुआ ही नहीं है।

"धीरे-धीरे आदत पड़ गयी और जड़ हो गये।...."

—ऊपर लिखी अपनी कहानी उन्होंने संजीदा होकर हमें सुनायी, तो हमने यों ही विनोदपूर्वक पूछ लिया, "जब जड़ हो गये तो उसके बाद पेड़ भी तो हुए ही होंगे आप?"

उन्होंने और भी मुँह लटकाकर कहा, "अरे यार, जड़ भी जड़ और ससुरा पेड़ भी जड़। क्या फ़र्क़ पड़ता है!"

लेकिन इसके बाद ही वे मेरे सवाल और अपने जवाबपर विचार करके मुसकराये। कहने लगे, "बड़े शैतान हो तुम?"

२० जनवरी १९५३

१४

तीन तरह

आदमी तीन तरहके होते हैं । एक वे : जिन्हें दनादन बातें सूझती हैं। मिनिट-मिनिटपर इनकी बाछें खिलती हैं । इनके ठहाकोंसे महफ़िलें गूँजती हैं; मस्ती, खुशी और आमोद इनके संग-संग रहते हैं । ये लोग दोस्त बनते-बनाते हैं ।

दूसरे वे : जिन्हें बातें बादमें सूझती हैं । "उस मौक़ेपर ऐसा कहा होता, उस बातका जवाब इस तरह दिया होता"-सरीखे विचार जिनके मनमें आते हैं । ऐसे लोग लेखक बनते हैं । पहली कोटिके लोग अकसर इनकी कहानियोंके पात्र बनते हैं ।

तीसरे वे : जिन्हें कोई बात कभी सूझती ही नहीं । बस, जो सामने आया उसे या तो मान लिया या फिर नहीं माना । ऐसे लोग पाठक बनते हैं । इनको ही श्रोता, दर्शक या जनता कहा जाता है और इन्हींकी बहुतायत होती है ।

मैं क्या हूँ ? बारी-बारीसे तीनों हूँ क्या ?

१२ फ़रवरी १९५३

१५

आठ-सौ पेजकी किताब

आठ-सौ पेजकी किताब एक दिन हम लायब्रेरीसे पढ़नेके लिए ले आये। सो, उसपर मज़ाक़ हुआ कि—देखो भई, पढ़-वढ़ तो तुम पाओगे नहीं, लेकिन चूँकि अब ले ही आये हो इसलिए मेज़पर सजाकर रख लो और जब कोई तुम्हारे यहाँ आये : किसी सवालपर बहस शुरू कर दे तो तुम कहना, "क्यों जी, अपनेको समझते क्या हो ! कुछ पढ़ा-वढ़ा भी है ? लो, यह किताब पढ़ो, तब आकर बातचीत करना ।"

जाहिर है कि बहस करनेवाला किताबकी सूरत देखकर ही सहम जायेगा और बहस बन्द करके, इस डरसे तुम्हारी बात मान लेगा कि कहीं सचमुच ही आठ-सौ पेजकी मोटी किताब पढ़नी न पड़ जाये।
२० फ़रवरी १९५३

१६

कहानी-लेखक और प्रकृति

जितेन्द्रका ट्रान्सफ़र रीवाँ हो गया। उसकी खबर देनेके लिए एक दिन आया। मुझे सुनकर अफ़सोस हुआ। तबीयत हुई कि बिलकुल चुप रहूँ, लेकिन लगा कि कुछ-न-कुछ कहना तो चाहिए ही, इसलिए मैंने कहा, "भाई, अच्छा तो है। सुना है कि रीवाँ बड़ी सुन्दर जगह है। शान्त है, पहाड़ है, झरने हैं। मज़ेसे प्राकृतिक दृश्य देखना।"

जितेन्द्रने कहा, "अरे, प्राकृतिक दृश्योंको लेकर चाटूँगा क्या? मैं तो भाई गद्य-लेखक हूँ, कोई कवि तो हूँ नहीं कि सुन्दर दृश्य देखकर गीत लिख डालूँ। प्राकृतिक दृश्योंको देख मुझमें भावना नहीं उठती। अच्छे लगते हैं, लगा करें, ठीक है। पर उससे होना ही क्या है? सुन्दर दृश्योंको लेकर कहानी तो बनती नहीं। आप पहाड़ी और झरनेके किनारे ज्यादासे-ज्यादा रोमाण्टिक कहानी लिख दीजिए। प्रेमी-प्रेमिका आये, लड़का-लड़की मिले, पति-पत्नी आकर रहे, चलिए खत्म हो गया।....अब देखो, मैं चित्रकूट गया। और चूँकि वहाँकी यात्राका उपयोग करना ही था इसलिए एक कहानी भी लिखी। साली फ़्लॉप हो गयी। इसलिए जनाब, सुबहकी किरन और शामका झुटपुटा, चाँद और झरना, पहाड़ और सितारे—यह सब देखकर मैं सिर भले ही धुन लूँ, रोने लगूँ, खुश होऊँ—भाईजान कहानी इन सबसे नहीं बनती।"

जितेन्द्रसाहब कुछ और भी कहते लेकिन कुछ इस दिलचस्प लहजेमें उन्होंने यह सारा ज़िक्र किया कि मेरी तबीयत बाग़-बाग़ हो गयी। मैंने

उन्हें रोका, पीठ ठोंकी और कहा, "मानता हूँ यार, हो कलाकार तुम।"
२० फ़रवरी १९५३

१७

नन्ही बटेरें

आज बड़ा मज़ा आया। दो छोटी-सी प्यारी बच्चियाँ आयीं। मालती और माला। एक बड़ी, दूसरी छोटी बहन। आकर कमरेमें डोलने लगीं। कभी दवाइयोंकी शीशियाँ छूतीं, कभी किताबें उलटतीं, और कभी मेज़पोश अपनी तरफ़ घसीटतीं। मैंने डाँटकर कहा, "भाग जाओ।" तो मालाने भोली आँखें मुझपर गड़ाकर कहा, "नहीं दायेंगे।" हँसकर मैंने बुलाया, "अच्छा, आओ इधर आओ।" तो दूर भाग गयी।

फिर रमेशने मालतीको और मैंने मालाको उकसाकर इसके लिए तैयार किया कि वे आपसमें लड़ें। हम लोगोंने दोनोंको दाँव-पेच दिखाये कि किस तरह वाल पकड़कर घसीटना होगा, कैसे चुटकी काट लेनी होगी, किस तरह कान उमेठ लेनेसे जीत हो सकेगी। दोनों लड़कियाँ सिर हिला-हिलाकर समझती रहीं और जब सीख गयीं तो एक-दो-तीन कहकर उन्हें बटेरोंकी तरह छोड़ दिया गया और वे एक दूसरेसे गुथ गयीं। हम लोग अपने-अपने योद्धाको आदेश देते रहे, दाँव-पेच बतलाते रहे।

लड़ते-लड़ते गिर गयीं तो उन्हें अलग किया गया। पूछा कि चोट तो नहीं लगी तो दोनोंने बताया, "नईं लदी।"

फिर उनको 'विटामिन सी' की एक-एक खट्टी टिकिया खानेको दी और कहा कि, "जाओ, अपने घर जाओ। अब कल आना।" तो वे दोनों-की-दोनों एक-दूसरेके हाथमें-हाथ डालकर चली गयीं और बाहर नीमके नीचे खेलने लगीं।

६ अगस्त १९५३

१८

कुछ अपनी भी

बहुत दिनों तक पुस्तकें मेरे लिए वेदवाक्य-सरीखी बनी रहीं। मेरे मित्र मुझसे जो कहते उससे तो मैं अपनी समझके अनुसार मतभेद प्रकट करता किन्तु पुस्तकोंमें जो बातें लिखी होतीं उन्हें मैं हमेशा सही और उचित मानता रहा। इस तथ्य-विशेषका कारण कदाचित् मेरे बचपनके संस्कार थे। बचपनसे ही पुस्तकोंके प्रति अन्तरमें अपार श्रद्धा और पूजा-भावना स्थित हो आनेके कारण पुस्तकोंसे मतभेद रखना मैं काफ़ी बादमें सीख पाया। इसीलिए साहित्यके प्रति मेरा दृष्टिकोण एक अरसे तक स्वीकारात्मक ही रहा। हर छपी बातको सच मान लेनेका संस्कार मुझमें बहुत देर तक जड़ जमाये रहा। तभी तो मैं प्रारम्भमें शंकालु, विवादी या बौद्धिक दृष्टिसे स्वतन्त्र न बन पाया। यह तो बहुत बादमें जान सका कि हर छपी बात आप्तवाक्य नहीं है, बहुत कुछ झूठ-फ़रेब और छलप्रपञ्च भी है।

इसी तरह, एक बात और भी याद आती है कि मैंने कविताओंका पढ़ना काफ़ी देरमें शुरू किया। पहले गद्य ही पढ़ता रहा—कहानियाँ और उपन्यास। इसके दो फल हुए। एक तो मेरी प्रकृति और मेरा मन शुरूसे ही कल्पनाशील और भावप्रवण न बन सके। मैं संगीतको भी अपने अन्तर-में बसा न सका। दूसरे यह कि मैंने कविता लिखना अपेक्षाकृत बादमें प्रारम्भ किया।

भावप्रवणता और कल्पनाशीलताके इस प्रारम्भिक अभावने मुझे कदा-चित् दो रूपोंमें स्पर्श किया होगा : एक तो मैं तत्कालीन छायावादी भाव-धारासे उदासीन या कहूँ कि एक प्रकारसे अपरिचित रहा, दूसरे—मैंने जब कविताएँ पढ़ना प्रारम्भ किया तो अंग्रेज़ी कवितामें भी उतना ही रस खोजा जितना हिन्दीमें। इस प्रकार कविता लिखने, पढ़ने, और समझनेके लिए

मेरे मनका निर्माण लगभग सन् अड़तालीस-उनचासमें हुआ। इससे पहले मेरे स्वभाव, प्रकृति, और रुचि आदिपर कविताके जो संस्कार पड़े वे लगभग शून्यके बराबर थे।

फलतः, मैंने स्वाभाविक रूपसे ही, अपने समवयस्कोंसे कुछ पहले और कुछ दूसरे ढंगसे भी, नयी कविताको पसन्द करने और समझनेका प्रयास किया, ऐसा याद आता है।

११ अक्टूबर १९५३

१९

कानपुर

कानपुर ! यानी भीड़ और व्यापार। धूल-धक्कड़ और व्यापार। साहित्य और व्यापार। कानपुर मायानगरी है—उस 'माया' की जो सिद्धान्ततः तो 'आनी-जानी' है लेकिन कुछ जगहोंपर और कुछ लोगोंके पास बस 'आनी ही आनी' है, जानी नहीं। ग़नीमत सिर्फ़ इतनी ही है कि ऐसे कानपुरकी कथा अपरम्पार नहीं है, बस एक शब्द कहनेसे काम चल जाता है कि कानपुर महा-व्यापार है।

ऐसे इस शहरमें दो-तीन दोस्त हैं जो एक मोहल्लानुमा हॉस्टेलमें रहते हैं। एक हैं जो कुली-बाज़ारमें रहकर 'तरफत बिन जल मीन' हैं, और एक चौक सराफ़ेमें शायद सोने-चाँदीका व्यापार करते हैं। इनसे दूकानपर मिलनेकी मनाही है क्योंकि इन्हें अपने दोस्तोंकी नीयतपर यक़ीन नहीं।

त्रिलोचनसिंहका घर हैलेट नगरमें है। उनसे मिलनेके लिए खाई-खन्दक और अनगिनत मोहल्ले-टोले पार करने पड़ते हैं। हैलेट नगर खूब बस्ती है। बेढंगे क्वार्टर, बेतुका बाज़ार और बदहवास योजना। रहनेवाले सबके-सब सिन्धी-पंजाबी। इसमें क्या अचरज : जैसी योजना वैसी ही बस्ती भी। क्वार्टरोंका यह ढंग कि बाहर एक कमरा, भीतर एक दालान, एक

आँगन—सब छोटे-सँकरे; और दो ऐसे स्थान जिनके शुद्ध नाम हैं स्नानगृह और शौचालय। ज़्यादासे-ज़्यादा दो आदमियोंके रहनेकी जगह और हर घरमें रहनेवालोंकी संख्या छह-आठ-दस तक।

यहाँ एक स्कूल है जिसकी कक्षाएँ सात-आठ जगहोंमें लगती हैं। होता यह है कि मास्टर यहाँ तो लड़के वहाँ और मास्टर वहाँ तो लड़के यहाँ! एक बाज़ार भी जिसमें बारहों महीने कीचड़ भरा रहता है। छोटी-बड़ी, नौजवान-अधेड़ लड़कियाँ वहाँ खरीदारी किया करती हैं।

लेकिन यह कहानी लम्बी है। कुली-बाज़ारके मित्रका घर बाहरसे मोटरका गराज जान पड़ता है, भीतरसे प्राचीन गुफा-शैलीके आधारपर निर्मित है। उनकी गलीमें कंकड़ों-पत्थरोंके अम्बार लगे रहते हैं, इसलिए कि लोगोंके पैरों-तले पड़कर कुचल जायें और उम्दा सड़क बन जाये।

कुली-बाज़ारमें घुसते ही ठनाठन-ठनाठनकी घनघोर कर्णवेधी ध्वनियाँ सुन पड़ती हैं। निश्चय ही यह कुलियोंकी बस्ती नहीं है। यहाँ लोहेकी छड़ों, टीनकी बालटियों, जानवरोंके गलेमें बाँधी जानेवाली ज़ंजीरों और इसी तरहकी दूसरी चीज़ोंका काम होता है। कुछ दिनोंमें रेलवे एंजिन और लड़ाईके टैंक बनानेके कारखाने भी खुलेंगे। प्रगति कुछ ऐसी ही है। तब हमारे ये दोस्त गाँवोंमें जाकर रहने लगेंगे क्योंकि ऐसे शहरमें रहना तो खैर बिलकुल असम्भव है जहाँ रेलका एंजिन बनता हो।

कुली-बाज़ार असलमें लोहा-बाज़ार है। दिनमें यहाँ मुँहसे बात कहना और कानसे बात सुनना, दोनों ही गम्भीर प्रश्न रहते हैं। इस गलीमें चलनेवाला हर समझदार आदमी अपनी जानका बीमा करा लेता है क्योंकि यह बिलकुल अनिश्चित है कि कब कोई ठेला आपके ऊपरसे होकर गुज़र जायेगा, कब कोई लोहेका ऐंगल आपकी खोपड़ीपर पटक दिया जायेगा या कब कोई मज़दूर अपने सरपर लादी गयी छड़ोंको आपकी आँखमें भोंक देगा।

एक बहुत प्यारे दोस्त उस नवाबगंजमें हैं, जो शहरसे छह मील दूर

है। रास्तेमें चढ़ाइयाँ और ढाल ! गंगाके किनारे एक पहाड़ीनुमा टीलेपर उनका घर है जहाँ पहुँचनेके लिए एक घाटी पार करनी पड़ती है।

नवाबगंज-जैसी खुली जगह है वैसी कानपुरमें कम होंगी। जंगल भी है वहाँ, पार्क-बग़ीचा भी। और गंगाकी धारा भी। अजायबघर भी है, ठहराव भी है। वहाँ चहल-पहल सिर्फ़ थोड़ी-सी और वह भी सुबह सब्ज़ी-मण्डीमें और शामको लड़कियोंके स्कूलमें छुट्टी होते वक़्त !

ऐसेमें इन दोस्तका घर वीरानेमें बसा है—बस्तीसे कुछ हटकर दस बीस घर हैं, उन्हींमें-से एक उनका है। उस दो-मंज़िले घरके ऊपरी हिस्सेमें हवा सीधे गंगासे लहराती हुई आती है। जाड़ोंमें हर दरवाज़े-खिड़कीको बन्द रखना पड़ता है। लेकिन घर-भरमें धूपका नामोनिशान नहीं। नीचेके कमरेमें सीलन, घुटन और सड़ाँध। इसी कमरेमें ये दोस्त रहते हैं।

अब बताइए ! ऐसे शहरमें ऐसी-ऐसी जगहोंमें रहनेवाले दोस्तोंसे मिलने जानेकी हिम्मत क्या आसानीसे पड़ती है !

१४ नवम्बर १९५२

२०

लोग मुझे पसन्द हैं

दूसरोंकी प्रशंसा करनेके लिए मुझे अपने सीनेपर पत्थर नहीं रखना पड़ता। दूसरोंकी प्रशंसा होते देख मेरे सीनेपर साँप नहीं लहराता। मैं सहज और मुक्त भावसे, निश्छल हृदयसे दूसरोंकी प्रशंसा करता हूँ। कहींसे उसमें बनावट नहीं रहती।

इसलिए लोग नाराज़ रहते हैं। खुद मेरे दोस्त, जिन्हें मैं पसन्द करता हूँ, मेरा मज़ाक़ उड़ाते हैं वह, "तुम्हारे लिए तो हर आदमी 'ग्रेट' है, हर कवि 'ऊँचा' है, हर ऐरा-ग़ैरा 'ए-वन' है।"

ऐसी बात कहनेवाले दोस्तोंको मैं समझ नहीं पाता। क्या उन्होंने मनुष्यताके पहले तत्त्वको नहीं जाना है, वर्ना वे आदमियोंको पसन्द करना

नहीं सीख पाये हैं ? आखिर क्यों वे ज़्यादातर दूसरोंके दोष ढूंढते हैं, और क्यों ये लोग ज़्यादातर आदमियोंको नापसन्द करते हैं ?

मेरा अपना ख़याल है कि जितने भी आदमियोंकी याद मुझे है—और काफ़ी लोग ऐसे हैं जो मुझे याद हैं—उनमें-से अधिकांशको मैंने पसन्द किया है : बहुत नापसन्द तो शायद किसीको नहीं किया।

ज़्यादातर लोगोंको मैं पसन्द करता हूँ, ऐसा कहता हूँ तो मेरे कई दोस्त यह समझते हैं कि मैं बकवास करता हूँ। हो सकता है कि दिलकी आवाज़ कभी-कभी बकवास ही कही जाये, लेकिन वह दिलकी आवाज़ नहीं है—ऐसा कहनेका हक़ तो किसीको नहीं है। भले ही कोई कहे, कहता रहे : लेकिन हक़ नहीं है किसीको ऐसा कहने, या ऐसा आरोप लगानेका।

११ फ़रवरी १९५४

२१

नेतागिरी : एक सिद्धान्त

नेतागिरीके सिलसिलेमें अभी तक सिर्फ़ एक सिद्धान्त समझमें आया है कि जितना भी अधिक समय हो सके, देना पड़ेगा। नेतागिरी फ़ुर्सतकी चीज़ नहीं है कि शामको दो घण्टे घूमने निकल गये और नेतागिरी कर आये। इसके लिए तो तुम्हें अपना पूरा जीवन, दिनका चौबीसो घण्टा देना पड़ेगा। और सम्पूर्ण भावसे तल्लीन होना होगा। यह तो शतरंजका खेल है—जब तक खेलो, हर मोहरेपर ध्यान रखो वरना एक भी जगह ग़फ़लत हुई नहीं कि शह और फिर मात।

लेकिन नेतागिरीमें आराम भी खूब हैं। जब तक तुम अधिकार पाये हुए नेता हो, तब तक तुम बिना मुकुटके बादशाह हो। लोग चापलूसी भी कर रहे हैं, हुक्म बजा लानेको तैयार हैं, तुम्हारी नज़रोंमें चढ़ जानेके लिए क्या-कुछ नहीं कर सकते हैं। लेकिन ! अजी, लेकिन क्या !—हर तसवीर के दो पहलू होते हैं, सो नेतागिरी भी तो आखिर एक तसवीर ही है : इसके

दो न सही, चार-छह पहलू मान लीजिए ! फिर भी इसमें कोई शक नहीं कर सकता कि नेतागिरी है आलीशान चीज़ !

१२ फ़रवरी १९५५

२२

मास्टरी

परीक्षण, निरीक्षण,
सुतीक्षण आँखें ।
कट गयीं पाँखें
हम उड़ते तो कैसे !
कॉलेज से कमरे,
कमरे से कॉलेज :
घूमा किये हम भाई,
फिरकी के जैसे ।

२० मार्च १९५४

२३

नेतागिरी : एक और सिद्धान्त

दो दिन हुए नेतागिरीका एक सिद्धान्त और भी सूझा है कि अगर तुम नेता बनना चाहते हो तो दूसरोंका उपकार करते रहो । दूसरोंकी तकलीफ़ों को छेड़-छेड़कर पूछो और आश्वासन दो कि उन तकलीफ़ देनेवालोंसे तुम निपट लोगे। इस उपकार करनेमें—'ओब्लाइज' करनेमें—कभी मत चूको। मौक़ा पाते ही इस अस्त्रका प्रयोग करो और यह बात बखूबी मनमें बैठा लो कि हर नेता ओब्लाइज करता है, तुम्हें अपने प्रति कृतज्ञ बनाता है इस प्रकार तुम्हारी प्रशंसा, तुम्हारे उद्योग और तुम्हारा समाज जीतता है ।

इसलिए नेता बननेके लिए तुम्हें हर दशामें 'उपकार' करना है,

'ग़लत और सही' इसमें नहीं सोचना है। उपकार हमेशा ठीक है, चाहे वह ग़लत चीज़के लिए हो, चाहे ठीकके लिए। बल्कि अगर ग़लत चीज़के लिए है तो और भी ठीक है क्योंकि तब उपकृत व्यक्ति तुमसे और भी अधिक प्रभावित होता है। बदलेमें तुम्हारे प्रत्येक नैतिक-अनैतिक कामके लिए कमर कसे तैयार रहता है।

नेता बनना चाहते हो? सबपर उपकार करो। कभी-न-कभी यह उपकार अवश्य फल देता है।

२७ मार्च १९५४

२४

दर्प

कन्धेपर बक्स लादे नौजवान। शत-प्रतिशत गन्दे और पुराने कपड़े पहने, असमय वृद्ध लोग। रास्ता भूली-सी बुढ़िया; और उसका चार साल का चकित-भ्रमित नाती। 'बहू' को पुकारती, लाठी टेकती, झुकी कमर और कमज़ोर निगाहवाली वृद्धा। हाथमें बक्स, बग़लमें गठरी, कन्धेपर पसीनेसे तर-बतर कमीज़, शरीरपर मैलसे चीकट बनियाइन, ऊँची धोती, फटा चमरौधा जूता, गोदमें तीन सालकी बच्ची लिये, छतरी थामे, छह हाथोंका काम दोसे करते हुए पैंतीस वर्षीय देहाती जवान। काम न पाने-वाले निराश और थके कुली।

: ये थे आज दोपहर लखनऊ जानेवाली गाड़ीके समय कानपुर स्टेशन के प्लैटफ़ॉर्म नम्बर पाँचपर मौजूद लोगोंमें-से कुछ। क्या यह कहनेकी ज़रूरत है कि हर दिन, हर गाड़ीपर, हर जगह, हर समय चढ़नेवाले—और उतरनेवाले भी—अधिकांशतः यही लोग होते हैं। सचमुच, इन सुपरिचितों के बारेमें कुछ कहनेकी ज़रूरत नहीं है।

लेकिन उस अपरिचित गोरे-भभूके, गोलमटोल लड़केके विषयमें तो अवश्य कहना होगा जो गाड़ी छूट जानेके बाद तक फ़र्स्ट क्लासके एक डब्बे

का रास्ता रोककर इस मुद्रामें खड़ा हुआ था कि डब्बेमें किसी और को बैठने तो क्या, झाँकने भी न देगा। वह अपने माता-पितासे ऊँचे स्वरमें अँग्रेज़ीमें बातचीत करता जाता था, और वे दोनों गुलगुले गद्दोंका सुख-भोग करते हुए यह अभिनय कर रहे थे कि उन्हें अपनी बातोंसे कहीं अधिक रस अपने सुन्दर बच्चेकी बातोंमें मिल रहा है। जैसे ही कोई साफ़-सुथरे कपड़ों वाला व्यक्ति इस कम्पार्टमेण्टकी ओर आता दिखायी देता, उस गोरे लड़के का मुँह कुछ अधिक गोरा हो उठता था, और उसके बाद तमतमाकर लाल पड़ जाता।....

लेकिन बच्चेका यों दरवाज़ा रोककर खड़े और अड़े रहना कुछ सार्थक नहीं हुआ, क्योंकि पहले दर्जेका कोई अन्य यात्री उस बच्चेके अधिकारको चुनौती देनेके लिए नहीं आया, गोकि बाक़ी सारी ट्रेनमें तिल रखनेको भी जगह न बची थी। और यह भी कहना पड़ेगा कि बच्चेके मुखपर विजय और दर्पका जो भाव निरन्तर विद्यमान था, उसमें ट्रेनके चलनेपर खिसिया-हट और पराजयकी हलकी-सी छाया आ मिली क्योंकि उसे तेज़ अंग्रेज़ीमें किसीसे यह कहनेका अवसर नहीं मिल पाया था कि—चलो चलो, दूसरे डब्बेमें जाओ, यहाँ हम बैठे हैं।

२१ जुलाई १९५४

२५

सिलकी चिमनीसे शहर

कोई ऐसी जगह खोजनी चाहिए जहाँसे कानपुर नगरका बहुत-सा हिस्सा दिखायी पड़े। बिरहाना रोडपर तीन-चार मंज़िलोंकी इमारतें हैं तो....लेकिन उनकी छतपर मुझे कौन जाने देगा! और सोच लो कि कोई जाने भी दे तो उससे क्या काम बनेगा? चार मंज़िलकी इमारतपर खड़े होकर शहरको देखना चाहूँगा तो आगे खड़ी पाँच-छह मंज़िलोंकी इमारतें निगाहका रास्ता रोक लेंगी। तब फिर नीचेकी सड़क और गलियाँ-भर

दिखेंगी : जिनको देखनेके लिए तो चौराहेकी वह गुमटी सबसे श्रेष्ठ स्थान है जहाँ पुलिसवाला खड़ा होता है।

नहीं भाई, ऐसे नहीं बनेगा। चलो, कोतवालीके घण्टा-घरपर चढ़नेकी जुगत लगाओ। और : नहीं तो, मिलोंकी आसमान छूनेवाली चिमनियोंपर सीढ़ी लगाओ।

लेकिन रुको ! क्या इस सबसे कुछ होगा ? अवश्य होगा ! कमसे-कम इतना तो जानोगे कि मिलकी चिमनीके छोरपर बैठकर देखनेसे शहर कैसा लगता है ! सम्भव है कि एक बार इस विशेष ढंगसे सब कुछको देख लेने-पर दृष्टिपथ कुछ और बढ़ जाये।

वरना तुम्हारी मरज़ी ! कॉलेजसे पोस्टऑफ़िस, और पोस्टऑफ़िससे किताबोंकी दूकान ! और वहाँसे बाज़ार होते हुए स्टेशन और स्टेशनसे घर तक ही अपनी निगाह तथा राह सीमित रखना चाहते हो तो तुम्हें कौन रोके है। इतनेमें ही रहकर बिता दो जीवन।

१ नवम्बर १९५४

२६

दो नौजवान

कानपुरसे लखनऊ जानेवाली आख़िरी ट्रेन : कानपुर स्टेशन।

सफ़र करोगे तो तरह-तरहके लोग मिलेंगे। भाँति-भाँतिके दृश्य दिखेंगे। वे उबाएँ तो भी रोचक हैं।

अब इनको देखो। दो नौजवान डब्बेमें घुसे हैं। आते ही उन्होंने अपने-अपने कोट उतार खूँटीपर टाँग दिये हैं और ज़ोर-ज़ोरसे बातें करने लगे हैं। ये लखनऊ जाते ही गुप्ता और सम्पूर्णानन्दसे मिलेंगे। गौतमसे चर्चा करेंगे। सारे मिनिस्टरोंसे भेंट करेंगे। जैपुरियाने इन्हें पाँच-सौ रुपये ही दिये हैं। रुपयेका प्रबन्ध करवाना है। ये ऐसा फ़ंक्शन करेंगे कि बस !

उनमें-से एकने लेटरपैडपर एक विज्ञप्ति लिखी है और उसे ज़ोर-ज़ोरसे

पढ़कर अपने साथीको सुनाया है : ताकि डब्बेमें बैठे सभी लोग सुन लें। अँग्रेज़ीमें यह विज्ञप्ति है जिसमें तीन-चार बार पण्डित नेहरूका नाम आया है। इसी बीच दूसरा साथी बोल उठा है कि वह पन्तजीसे सारी बात कर लेगा।....

....अब ये लोग चर्चा कर रहे हैं कि अगर उनके शुक्ला नामक साथी ने पूरी स्पीडपर मोटर न भगा दी होती तो ट्रेन निश्चय ही छूट जाती। गाड़ी काफ़ी तेज़ आयी थी इसमें शक नहीं। यार, शुक्ला ग़ज़बका रेश ड्राइवर है!

इन दोनों नौजवानोंमें-से एकका लखनऊमें बँगला है जहाँ वह दूसरेको रातमें टिकायेगा। सुबह शेव कराके, नहा-धुला और चाय पिलाके मिनिस्टरों से मिलनेके लिए भेजेगा।

कम्पार्टमेण्टके अधिकांश लोग, मैं जानता हूँ कि मन-ही-मन इन दोनों युवकोंका उपहास कर रहे हैं, इनपर हँस रहे हैं, लेकिन ये नौजवान हैं कि सबपर भरपूर रोब जमाकर ही दम लेंगे।

यूथ-कांग्रेस और कवि-सम्मेलनका ज़िक्र इनकी बात-चीतमें कई बार आया है। लगे हाथों इन्होंने सर पदमपतका नाम भी लिया और दोहराया है। बस, गुप्ता और पदमपत। बुद्धिमान् लोगोंके आकर्षणका केन्द्र इन दिनों या तो नेता हैं या पूँजीपति।

ज्यादा नहीं, तीन-चार रुपयेकी तो सिगरेट ही ये लोग पी गये दिन-भरमें। अब विवरण बता रहे हैं कि कब दो आनेकी और कहाँ आठ आने की सिगरेट ख़रीदी थी।

पहलेसे जानते थे कि चलते-चलते जूते घिस जायेंगे इसलिए खासतौर-से चलनेके लिए बनवाये गये जूते पहनकर आये थे।

लखनऊमें अभी दो-एक सेठ रह ही गये जिनसे रुपया नहीं लिया गया: जैसे राय साहब।

एकको सर्दी बिलकुल नहीं लगती। वह कोट पहनेगा ही नहीं। कोट

तो बस इसलिए ले आया था कि लोग यह न समझ बैठें कि उसके पास कोट है ही नहीं।

एकको सवेरे झूठ बोलना पड़ेगा। दूसरा कहता है कि हाँ बोल देना।
....नेता लोग तो वैसे अकसर झूठ बोला करते हैं।

मगरवारेमें गाड़ी रुकनेपर एकने कहा है कि हर जगह ट्रेन रुकेगी। दूसरेने झटसे कानपुरसे लेकर लखनऊके बीच पड़नेवाले सारे स्टेशनोंको दोहरा दिया है। जैतीपुरका नाम छूट गया था, इसलिए याद आनेपर कुछ देर बाद बताया गया है।

निश्चय ही ये लड़के लखनऊ युनिवर्सिटीकी किसी कक्षामें पढ़ते हैं। एक शायद, जो नेता है—बलियाकी तरफ़का रहनेवाला है, दूसरा इतनी ज़ोरसे बोलता है कि जाट जान पड़ता है। दोनों एक दूसरेसे सोनेको कहते हैं—गाड़ी लखनऊ एक बजे रातसे पहले क्या पहुँचेगी—दोनों इनकार करते हैं। मैं सोचता हूँ कि अगर ये सोयेंगे नहीं तो बेचारे सहयात्रियोंकी क्या दशा होगी।

उन्नावके निकट आनेपर ट्रेनकी रफ़्तार धीमी पड़ी है पर दोनों नेता-भिलाषी युवकोंका उत्साह पूर्ववत् है और शायद तभी कम होगा जब कम्पार्टमेण्टके सारे यात्री ऊँघने या सोने लगेंगे।

ये लड़के प्रदर्शन करते हैं लेकिन इससे भी बड़े दुर्भाग्यकी बात यह है कि आजकल लोग ऐसे ही भोंड़े तथा कुरुचिपूर्ण प्रदर्शनसे प्रभावित होते हैं। प्रदर्शन ही लोगोंके दिलोंमें और दिमाग़ोंपर घर बनाता है या हावी हो जाता है।

९ दिसम्बर १९५४

२७

काग़ज़के फूल

अँधेरा बढ़ता जाता है और उसके साथ हज़रतगंजकी रौनक़ बढ़ती

ज़ाती है। लखनऊवालोंकी सुरुचिका जो क़ायल न हो वह आदमी नहीं चुक़न्दर है। यहाँकी लड़कियाँ सबके सामने अपनेको प्रस्तुत करनेकी कला ख़ूब जानती हैं। इसपर श्रीचन्दने कहा कि पेश करनेकी कोशिश तो भाई हर जगह और हर लड़कीमें रहती है, हाँ यहाँकी बात कुछ खास ज़रूर है।

बहुत-से भिखारी भीख माँगते हुए दिखे। मैंने ग़ौर किया कि भीख माँगनेसे पहले और भीख माँग चुकनेके बाद उनके चेहरे कुछ और ही होते हैं। बस : भीख माँगनेका क्षण ऐसा होता है कि ये भिखारी हम तथाकथित भीख न माँगनेवालोंसे भिन्न दिखायी पड़ते हैं। वरना, उनमें और हममें अन्तर ही क्या है ! आप ख़ुद कभी देखिए : भीख माँगनेसे क्षण-भर पहले और क्षण-भर बाद—भिखारीको।

हज़रतगंजके एक-दो चक्कर लगाकर हम थोड़ा ठहर गये। जहाँ भी ठहर जाओ, कैसी अजब बात है कि कुछ-न-कुछ दिख ही जाता है ! ये जो गुब्बारे और काग़ज़के फूल बेचनेवाले लड़के एक किनारे खड़े हैं—इनके कपड़े-लत्ते या इनकी शक्ल-सूरत भले ही हज़रतगंजकी सैर करनेवालोंसे बहुत भिन्न है, लेकिन इनमें जोश और उमंगमें किसी भी तरहकी कमी नहीं है। बस, थोड़ेसे परिष्कारकी बात और छोड़ दीजिए : इन लड़कोंमें—बढ़-चढ़ कर बातें मारना, तू-तड़ाक करना, शान झाड़ना, ज़ोरसे बोलकर अपनी उपस्थिति जताना—सारी बातें युनिवर्सिटीके फ़ैशन-परस्त, उच्च शिक्षा प्राप्त नौजवानों-जैसी हैं।

हम कुछ आगे बढ़े हैं। यह चौराहा है : हज़रतगंजका प्रवेश-द्वार। मुझे ख़ूब पता है कि हज़रतगंजमें घुसते ही लोगोंका बातचीत करनेका ढंग और-का-और हो जाता है। एक नौजवानने दूसरेकी पीठपर धौल जमा कर बताया है कि स्कूटर अठारह-सौ की आ गयी यार ! दो दोस्तोंमें-से एकने शानसे भरकर कहा है—देख, अभी साइकिल भिड़ाता हूँ 'चम' से। कहीं कोई पूछ रहा है—९१६८ किस मिनिस्टरकी गाड़ीका नम्बर है, दोस्त ? इस सुहानी फ़िज़ामें अनन्त स्वर मिल-जुलकर गूँज पैदा कर

रहे हैं : हलो, हलो····गिटपिट, गिटपिट, गिटपिट····गिटपिट····

मैंने श्रीचन्दसे कहा है कि कहीं एकान्तमें चलकर हम लोग बैठें तो कैसा रहे !

१० दिसम्बर १९५४

२८

एकमात्र उत्तर—मौन !

"घरमें लोग कहते हैं कि यह ससुरा ग्यारह-ग्यारह बजे रात तक कहाँ ग़ायब रहता है। मैं, भाई साहब ! आपको क्या बताऊँ कि बेकारीमें इन-सान कहाँ-कहाँ घूमता है, क्या-क्या करता है ! वह तो ऐसी जगह खोजता है जहाँ उसको जाननेवाला कोई न हो, दोस्त-अहबाब न हों। बस, अकेले, गये, चुपचाप बैठे रहे, खुद ही कुछ सोचा किये, हँसे-गुनगुनाते रहे : और जब लौटनेका समय हो गया तो उठकर आये, सो रहे।"

लल्लन बाबूने इस तरहकी बातें कहीं तो मुझे लगा कि आँखोंमें आँसू भर आयेंगे। मेरे सम्मुख मानो पहली बार बेकारीका स्वरूप स्पष्ट हुआ। बेकारका दोस्त कौन है, बेकारके लिए सान्त्वना क्या है, बेकार व्यक्तिका मन आख़िर काहेमें रमे ?—यही तो पूछा था उन्होंने ! फिर अपने-आप हँसकर कहने लगे, 'आपसे क्या पूछना ! इन सब बातोंका भला कोई उत्तर है !"

लल्लन बाबू जानते नहीं थे : उत्तर था। और मैंने दे भी दिया।

उनके प्रश्नका एक ही उत्तर आजकल हम सबके पास है : मौन !

बेकारीकी पुकारका उत्तर—मौन ! यही उत्तर मैंने उन्हें दिया। मैं दूसरोंसे भिन्न कहाँ हूँ !

१३ मार्च १९५५

२९

सारी दुनियाकी फ़िक्र

कॉफ़ी हाउस।

नीली बुश-शर्ट, सफ़ेद पैण्ट। खिचड़ी बाल। एक व्यक्ति। सारी दुनियाकी फ़िक्र इसे ही है। उम्र बेहिसाब।

जेबमें लगे फ़ाउण्टेनपेनकी चमकती क्लिप, आँखोंपर चढ़े चश्मेका दाहिना शीशा चमकता-सा। सफ़ाचट चाँद—तेलसे सींची हुई, चिकनी। दूसरा व्यक्ति। बाँयीं आँख जो शीशेके पार झलकती है—चतुर और सशंकित।

कॉफ़ीके एक प्यालेपर यों व्यस्त मानो एक प्यालेसे दो प्यालोंका मज़ा ले रहे हों।

बिल आनेपर एकने रुपयेका नोट, दूसरेने काँसेका सिक्का बेटरके आगे बढ़ाया। लेकिन बिल अदा किसने किया? नीली बुश-शर्टवालेने।

मेरे दोस्त बाज़ी हार गये। उनका कहना था कि खल्वाट खोपड़ी वाला कॉफ़ीके दाम देगा। लेकिन मैं पहले ही जान गया था कि जिसकी शक्लपर सारी दुनियाकी फ़िक्र झलक रही है उसे भला बिल चुकानेकी फ़िक्र क्योंकर न होगी!

२७ अप्रैल १९५५

३०

स्वप्नाविष्ट मित्र

"जब कभी ऐसा सुयोग आयेगा कि पेड़-पौधोंसे अपने घरको शोभित कर सकूँ तो मैंने सोच रखा है कि अमलतास और गुलमुहर ज़रूर लगाऊँगा"—चुपकेसे मुझे वनस्पति-शास्त्रके एक विद्यार्थीने बताया।

मैंने पूछा, "क्यों भाई क्यों? दुनियामें तमाम पेड़-पौदे हैं: तुमसे

अधिक परिचय और किसका होगा ! इन सहस्रोंमें-से भला तुमने ये दो क्यों चुने ?"

वनस्पति-शास्त्रके विद्यार्थी, मेरे मित्र, बोले, "इन दोनोंकी बहार कुछ और ही है। एक गहरा पीला, दूसरा सुर्ख ! इन फूलोंके गुलदस्ते ड्राइंग-रूममें सजाऊँगा। एक कमरेमें बसन्ती परदे, पीले रंगसे पुती दीवारें, वसन्तागमके चित्र—हाँ, ये सब होंगे।" एक अजब अन्दाज़से मुसकराकर मित्रने गुनगुनाया : "पीले फूल कनेरके।"

उत्तरमें मैं भी मुसकराया। पूछा उनसे, "और प्यारेलाल ! दूसरे कमरेमें ?"

स्वप्नाविष्ट-से इन मित्रने बताया, "पिंक दीवारें ! यू अण्डरस्टैण्ड पिंक ?—गुलाबी, गुलाबी ! ओह ! लाल टेपेस्ट्री ! और रंगीन सोफ़ाके बीचोबीचवाली गोल मेज़पर सुर्ख फूल ! जादू, महज़ जादू !"

"ऐसा ?" मैंने अचरज किया।

"और क्या !" वे फूट पड़े, "सुधिमें संचित···· क्यों भाई अजित, सुधिमें संचित क्या ?"

"वह साँझ कि जब····" मैंने सहारा दिया।

"हाँ, हाँ ! सुधिमें संचित वह साँझ कि जब रतनारी प्यारी सारीमें तुम प्राण मिलीं गुलमुहर-तले।" —गानेका प्रयत्न करनेके पश्चात् दोस्तने एक सर्द आह भरी !

"हैं ! यह क्या ?"—मैं घबड़ाया। इधर-उधर दृष्टि डाली। कहीं कुछ न था। बस, हम लोग टहलते हुए पार्कके भीतर जानेवाली सुनसान सड़कपर आ पहुँचे थे।

उन्होंने बड़ी आत्मीयतासे मेरा हाथ दबाया, "देखो अजित, तुम तो मेरे सच्चे दोस्त हो। वह अमलतास देख रहे हो न ?"

"कहाँ ?" मैंने अचकचायी निगाह घुमायी।

"वो···· साहेबके बँगलेमें ! अजित ! उनकी लड़की रोज़ शामको कुरसी

डालकर अमलतासके नीचे बैठती है। अजित, मैं उसीसे शादी करूँगा। और सुनो! शादीके बाद सुबह वह वासन्ती साड़ी पहनेगी और शामको लाल....."रतनारी प्यारी सारीमें !...." मित्र भावावेशमें आ गये।

"और मान लो, वह तुम्हारे कहेके अनुसार कपड़े पहननेसे इनकार कर दे तो ?" मैंने विनोदपूर्वक पूछा।

इसपर मित्र मचल गये और देर तक मचले रहे।

१२ जून १९५५

३१

बुलबुले-हज़ार दास्ताँ

गार्डकी तीखी सीटी और एंजिनके कर्कश भोंपूकी औपचारिकताके बाद गाड़ी धीरे-धीरे खिसकी। हाथमें कड़ुए तेलका आधा भरा अद्धा लिये एक दुबला-पतला व्यक्ति पायदानपर पैर रखकर डब्बेमें दाखिल हुआ। पानीसे तर-बतर, मैला कुरता-पायजामा, सिरपर चिपकी हुई मैली दुपल्ली टोपी।

ये महाशय डब्बेमें आकर सीटपर पैर रखकर, घुटने मोड़, मुड़े हुए घुटनोंको हाथोंसे बाँध सर्दी बचानेका यत्न करते हुए-से बैठ गये।

गाड़ी प्लैटफ़ॉर्मको पार कर आगे बढ़ी ही थी कि उन्होंने आस-पास बैठे लोगोंको सम्बोधित कर क़िस्सा सुनाना शुरू कर दिया। दो-तीन-चार : आस-पास बैठे कई लोग दत्तचित्त होकर सुनने लगे।

डब्बेके बाहर मूसलाधार पानी बरस रहा था, भीतर ये महाशय अपनी बग़लमें कड़ुए तेलका अद्धा रखे न जाने कहाँका क़िस्सा बता रहे थे—

"कानका मैल निकालनेवाला आया। बोला, 'आपके कानमें बड़ा मैल है। मैल ही नहीं : गोलियाँ हैं।' बेचारे सीधे-साधे आदमी थे। बोले, 'अच्छा निकालो भाई, हम भी देखें कैसे दाने हैं हमारे कानमें।'

"अरे भैया, उसने निकालने शुरू कर दिये तो सरसोंके बराबर पच्चीस-तीस दाने निकाल कर रख दिये।

"एक सज्जनने जो अवतक तटस्थ थे, अचानक क़िस्सेमें दिलचस्पी लेकर सूत्र जोड़ा, "काले काले होंगे, सख्त ?"

"तेलके अड्डेवालेने दूने उत्साहके साथ बताया, 'हाँ भैया, सुनो तो। अब झगड़ा पड़ा। मैलवाला कहता, हमारे तीन रुपये नौ आने हुए। कानसे पचीस गोलियाँ निकाली हैं, हाँ। वेचारे बड़े बुरे फँसे। काफ़ी तकरारके बाद दो रुपये देकर पिण्ड छुड़ाया।'

"ऐसे ही ये जूतेवाले हैं। 'तल्ला लगवा लो, तल्ला लगवा लो! दो आनेमें तल्ला लगवा लो!' मैंने कहा, चलो भाई, दो आनेमें तल्ला लगा जाता है, हम भी लगवा लें!

"अरे, वह तो इधर-उधर ठोंक-ठाँककर सवा दो रुपये माँग बैठा। हम बोले, धत्तेरेकी! ढाई आनेका जूता और सवा दो रुपया तल्ला लगवायी! हम तो न देंगे।....मगर लड़-झगड़कर उसने एक रुपया ले ही लिया।

"ऐसे ही ये ससुरे कानपुरके कुली हैं। उस दिन बम्बईसे एक धोबी आया। कुलीसे बोला, 'ये गठरी गाड़ीमें रख दो।' कुलीने चुपचाप गठरी तो डब्बेमें रख दी लेकिन जब धोबीने चवन्नी निकालकर हथेलीपर रखी तो त्यौरी चढ़ाकर बोला, 'दो रुपये होंगे।'

"लो, बात-ही-बातमें गाली-गलौज होने लगी। पुलिसवाला आया। उस बेईमानने भी कुलीके ही पच्छकी बात कही।

"गाड़ी रेंग गयी मगर मसला न सुलझा। कुलीने बढ़कर धोबीरामकी गरदन नापी, 'जाते कहाँ हो? मज़दूरी दिये जाओ चुपके।' हारकर एक रुपया निकालना ही पड़ा। चवन्नी मूज़ी कुली पहले ही हज़म कर चुका था।" कहानीका यह हिस्सा मौलानाने यों सुनाया मानो वे ख़ुद धोबी हों और कुलीको बीस आने उन्होंने ही अपनी गाँठसे दिये हों।

इस बीच मौलानाके श्रोतागण दूसरी-दूसरी बातोंमें लग गये थे। मौसम, बरसात, बाढ़ और घर-बारकी फुटकर चर्चा होने लगी थी। अपनी ओर किसीको भी आकृष्ट न पाकर मौलाना किञ्चित् हतप्रभ हो थम गये।

कुलीवाला क़िस्सा उन्होंने ज्यों-त्यों पूरा किया। फिर चुप हो रहे।

दो मिनिट बाद वे विचारोंमें डूबे-से दिखे…

वर्षा-भीगे रेलपथपर फिसलती-सी ट्रेन कूकती और शोर मचाती बढ़ी जा रही थी। निकट और दूरके दृश्योंको झरती हुई बूँदोंने धुँधला बना दिया था।

डब्बेके भीतर बैठे मौलानाने उस टोपीको सुधारा जो भीगकर उनके सरपर चस्पाँ हो चुकी थी। फिर उनके होंठोंमें हलकी-सी हरकत हुई, फिर थोड़ी-सी मुसकान फैल गयी। मैंने बिलकुल जान लिया कि मौलाना ऊँघ नहीं गये, बल्कि अब वे अपने-आपको वही दिलकश कहानियाँ सुना रहे हैं जिन्हें डब्बेवालोंने नहीं सुना।

मेरे मनमें तीव्र इच्छा जगी कि मौलानाके पास जाकर बैठूँ और उनसे कहूँ कि मैं…मैं तो उत्सुक हूँ…उन ताँगेवालों, गवैयों, और कुँजड़िनोंकी बातें सुननेके लिए जिनका क़िस्सा आप इस समय अपने मनमें छेड़े हुए हैं…

पर, इसी सोच-विचारमें, झमाके-से बरसते हुए पानीके बीच गाड़ी स्टेशनपर रुक गयी और 'बुलबुले-हज़ार दास्ताँ' को हसरत-भरी निगाहसे देखते हुए मैं प्लैटफ़ॉर्मपर उतर पड़ा।

४ अक्टूबर १९५५

३२

बड़ी बी : छोटी बी

बड़ी बी मुँह-अँधेरे उठकर, सूती, मारकीनकी चादर ओढ़ बाहर निकलीं। सड़कपर यहाँ-वहाँ पड़े गोबरको पीतलकी थालीमें बटोरने लगीं। उधरसे छोटी बी आयीं। ओह, बड़ी बी आज उनसे पहले पहुँच गयीं! देखकर छोटी बीने वार किया, "तुमने तो आज हमारे मुर्ग़ेको भी मात दे दी, बड़ी बी।"

गोबरका भारी छोत थालीमें रखती हुई, अपने काममें मन लगाये-

लगाये बड़ी बी बोलीं, "मगर तुम्हारे-जैसी फुर्ती कहाँसे लाऊँगी, छोटी बी। यूँ गोबर बटोर रही हो कि मुनिस्पाल्टीका जमादार भी शरमा जाय।"

छोटी बीने भुनभुनाकर कुछ कहा जिसका आशय था कि जमादार होगा तुम्हारा शौहर और तुम होगी जमादारिन।

इसके बाद बड़ी देर तक तू-तू, मैं-मैं होती रही और तभी खत्म हुई जब कि आस-पासका सारा गोबर बटोरा जा चुका था और एक-एक छोतके पीछे काफ़ी-काफ़ी तकरार हो गयी थी।

५ दिसम्बर १९५५

३३

रचनाएँ और उनके लेखक

कैसे-कैसे लोग हैं इस दुनियामें! ऊपरसे कुछ हैं, भीतरसे कुछ और हैं। कहीं औरसे—शायद कुछ और ही हों।

इनमें-से बहुतेरे लेखक और कवि हैं। इनको कविताओंको तुम पढ़ते हो तो दिल लुटा बैठते हो, विह्वल होकर अपना सब-कुछ उनकी कथाओंके पात्रोंपर समर्पित कर देना चाहते हो! आँख भर लाते हो, बिस्तरमें मुँह छिपाकर देर-देर तक आँसू बहाते हो या अपनी ज़िन्दगीको नयी खुशी और प्रेरणासे भर लेते हो!

लेकिन कैसी दिल तोड़नेवाली बात है कि इस तरहकी भावपूर्ण कविताएँ-कहानियाँ लिखनेवाले ये ही 'लेखक' लोग अपने वास्तविक जीवन में कितना भिन्न हैं। तुमने जो कुछ उनकी पुस्तकोंसे पाया है, वह कुछ भी इनकी ज़िन्दगीमें नहीं मिलता! ये लोग न जाने किस तरह पात्रोंकी सृष्टि करते हैं। अपने पात्रोंका कुछ भी तो इनमें नहीं होता। तुम इनकी रचनाएँ पढ़कर पवित्र, शुद्ध और परिष्कृत होते हो, पर इनके खुदके सम्पर्कमें आकर तो सिर्फ़ गन्दगी, ईर्ष्या, संकीर्णता और छोटेपनसे ही परिचित हुए हो। इन लेखकोंमें अपनी रचनाओंकी 'महत्ता' का शतांश

भी होता, काश ! ये कितने छोटे और निम्न स्तरके लोग हैं ! तुम्हारे मन में भाव उठता है कि कितना अच्छा होता कि तुम कभी इनके सम्पर्कमें न आये होते, इनके व्यक्तित्वसे दूर ही रहते ! बस, केवल इनकी रचनाओं : महत्ताओंके निकट जाते !

२४ मार्च १९५६

३४

परिचित-सी आवाज़

आज कानपुर जाते समय, बसमें पीछेकी सीटपर किसीकी परिचित-सी आवाज़ सुनायी दी। मैं सुनता रहा और सोचता रहा कि कौन हो सकता है ? फिर एकाएक ख़याल आया कि हो-न-हो, 'बुलबुले-हज़ार दास्ताँ' ही है।

इतनेमें किसीने प्रतिवाद किया, "अमाँ, बस भी करो। तुम तो बैठे नहीं कि वही पुराना मैजिस्ट्रेटका पचड़ा ले बैठे।"

'बुलबुल'ने चिढ़कर जवाब़ दिया, "तुमको क्या पता ? तुम भी पिंजड़े में होते तो टें-टें करते। जिसपर गुज़रती है, वही जानता है।"

मुझे 'बुलबुल'का यह मुहावरा बेहद पसन्द आया। पिंजड़ेमें होते तो टें-टें करते—यह बात 'बुलबुल'को छोड़कर और कह भी कौन सकता था !

और तभी मेरे नज़दीक बैठे हुए सज्जन अपने साथीको बताने लगे कि यह गन्दी कमीज़ और फटे पैजामेवाला आदमी कुछ साल पहले बड़ा भारी रईस और ज़मींदार था। सारी जायदाद इसने अफ़ीम खाकर उड़ा डाली। अब टके-टकेको मुहताज है। मगर बातें कमबख्तकी अब भी वैसी ही लच्छेदार हैं। जहाँ बैठता है, कोई-न-कोई क़िस्सा ज़रूर छेड़ देता है।

लेकिन पता नहीं क्यों, 'बुलबुल' फिर चुप हो गयी थी और या तो अपने ख़यालोंमें,या अफ़ीमके नशेमें खो गयी थी।

बस भागी चली जा रही थी और मुझे वह 'पिंजड़ेमें बन्द होने'वाला

मुहावरा याद करके बड़ी व्यथा हुई। पिंजड़ेमें बन्द होनेकी अनुभूति, सच है कि, इस व्यक्तिसे अधिक और किसे हो सकती है—जिसने अपनी लाखों की जायदाद एक अदने शौक़के लिए उड़ा दी और जो, एक ज़मानेमें लाखोंका मालिक, आज एक-एक दानेके लिए मुहताज है। जिसे खाने तक को नहीं जुटता, लेकिन आज भी जिसके लिए अफ़ीम पहली ज़रूरत है।

५ अप्रैल १९५६

३५

पैसेका लक्ष्य

बिड़ला मन्दिर। कृष्ण जन्माष्टमी। सुरेश और रमानाथको रनिङ् कमेण्ट्री करनी है। मुझे भी दृश्य दिखानेके लिए ये लोग ले आये हैं। दृश्य तो खैर यहाँ क्या देखना है! हर भीड़ और हर उत्सवकी ही तरह आज भी 'कन्फ़्यूज़न' ही सब तरफ़ है। भीड़ माने कोलाहल। अगर मैं कहूँ कि भीड़ थी तो समझ लीजिए कि कोलाहल था, और यदि मैं कहूँ कि कोलाहल था तो मान लीजिए कि भीड़ थी।

लक्ष्मीनारायणका मन्दिर देखिए! नारायणकी बड़ी सुन्दर मूर्ति है। इस मूर्तिपर पैसे चढ़ानेकी प्रथा है। जो भी दर्शक आते हैं, सबसे पहले इसी ओर आकर्षित होते हैं। मूर्तिपर आज पैसोंकी भरमार हो रही है। हमारे धर्मकी यही तो विशेषता है कि पैसा चढ़ाना ही हमारे भक्ति-भावकी पहली और आखिरी सार्थकता है।

लोग मूर्तिके निकट नहीं पहुँच पाते, भीड़ जो है: इसलिए दूरसे ही पैसे फेंकते हैं। ज़ोरसे फेंकते हैं और कुछ इस अन्दाज़से कि जहाँतक सम्भव हो, पैसे बीचमें रखे थालपर गिरें और ज़ोरकी आवाज़ पैदा करें। गोया लक्ष्य यह है कि 'पैसा' लक्ष्य तक पहुँचे और ज़ोरकी आवाज़ करे। हर आदमीके पैसेका आज यही उद्देश्य हो गया है।

सब-कुछ होते हुए भी उल्लास कहीं नहीं है। कोई भी चेहरा खुशीसे

दमकता हुआ नहीं दिखायी देता। एक तरहकी थकान सवपर छायी हुई है। किसी औरतका बच्चा चीख रहा है तो कोई आदमी इस सम्भावनासे चिन्तित है कि बस तो मिलेगी नहीं, घर वापस जानेका प्रवन्ध क्या होगा ?

उस महापुरुषका जन्म-दिन है जिसने प्रण किया था कि धर्मकी ग्लानि होनेपर मैं जन्म लेता हूँ। पर 'धर्मकी ग्लानि' से चिन्तित और अधर्मसे त्रस्त एवं पराजित आजके मध्य-वर्गके मुखपर आशा, उत्साह, उल्लास और आनन्दकी कोई भी झाँकी नहीं दिखायी देती गोकि झाँकी देखनेके लिए सभी आये हैं। आखिर क्यों ?

२९ अगस्त १९५६

३६

बादशाह और विद्वज्जन

बच्चनजीने आज एक बादशाहका क़िस्सा सुनाया जो चालीस सालकी उम्रमें जव राजा हुआ तो कुछ भी पढ़ा-लिखा न था। उसने आज्ञा दी कि सारे संसारका ज्ञान-विज्ञान पुस्तकोंमें संग्रहीत किया जाये। बस, देश-भर के विद्वान् इस महान् कार्यमें लग गये। दस सालमें चालीस ग्रन्थ तैयार हुए, जिनमें समस्त संसारका ज्ञान संग्रहीत था। राजा अब पचास वर्षका हो गया था। इतनी अधिक पुस्तकें पढ़नेका समय न था। आज्ञा दी उसने कि इन्हें संक्षिप्त करो। विद्वानोंने फिर दस वर्ष तक परिश्रम किया और उन चालीस ग्रन्थोंका सार निचोड़कर आठ ग्रन्थोंमें रखा। राजाकी उम्र इस समय साठ वर्षकी थी। आठ मोटी-मोटी पुस्तकें वह कैसे पढ़ सकता था। उसने आज्ञा दी कि एक पुस्तक वनायी जाये जिसे पढ़कर वह ज्ञानवान् बन सके। यह एक पुस्तक भी दस वर्षके पहले न वन सकी। और जब वनी भी तो इतनी भारी-भरकम थी कि उस एक किताबको उठाकर लानेके लिए कई आदमियों की ज़रूरत पड़ी। राजाने इस विशालकाय पुस्तकको देखा तो क्रोधसे पागल हो गया। उसकी आँखें कमज़ोर हो चली थीं, कमर झुक गयी थी

और उम्र भी सत्तर सालकी थी। इतनी मोटी किताबको पढ़ना अब उसके लिए बिलकुल ही असम्भव था। उसने विद्वानोंको आज्ञा दी कि सारे विज्ञान-ज्ञान और समस्त विद्याका सार एक पन्नेमें समेटकर ले आयें। उस एक पन्नेको पढ़कर राजा अपनी ज्ञान-पिपासाको तृप्त कर लेगा। बेचारे विद्वान् क्या करते ! राजाज्ञाको सुनकर वे उसका पालन करनेमें जुट गये और बड़ी मेहनतसे काट-छाँट करके, सम्पादन-संयोजन और संक्षेप करनेके बाद, उन्होंने समस्त ज्ञानको एक पन्नेमें लिख डाला। यह कार्य इतना दुस्साध्य था कि इसे पूरा करनेमें भी दस वर्ष लगे थे। जब उन्होंने राजाको सूचना दी तो राजाने अतिशय प्रसन्न होकर उस एक पृष्ठको पढ़नेकी इच्छा प्रकट की पर जब वह पृष्ठ राजाके पास लाया गया तो राजाने देखा कि वह पृष्ठ तो उसके पूरे राज-दरबारके आकारका है और उस बृहदाकार पृष्ठ पर छोटे-छोटे अक्षरोंमें सूक्ष्म रूपमें सारा ज्ञान अंकित है।

राजाकी उम्र अब अस्सी वर्षकी थी और उसकी समस्त इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गयी थीं। उसने लम्बी साँस भरकर कहा, 'अरे विद्वानो' इतना बड़ा पन्ना मेरे पास ले आये हो, और वह भी ऐसे महीन अक्षरोंमें लिखकर ! देखते नहीं कि मेरी आँखें कितनी कमज़ोर हैं। अस्सी सालकी उम्रमें इतना बड़ा पन्ना पढ़ सकना मेरे लिए असम्भव है। चलो, इसे वापस ले जाओ और सारे ज्ञानका निचोड़ मुझे बस एक पैरामें बता दो क्योंकि इससे अधिक पढ़ सकनेकी सामर्थ्य अब मुझमें नहीं रही।

विद्वज्जन राजाके वचनोंको चुपचाप सुनते रहे और फिर उस पृष्ठको उठाकर ले गये, जिसे तैयार करनेमें उन्होंने दस वर्षोंका श्रम लगाया था।

दूसरे दिन, विद्वानोंने, राजाके आदेशानुसार, समस्त ज्ञानका निचोड़—एक पैरामें नहीं बल्कि एक वाक्यमें लिखकर—राजाके पास भेज दिया। वह वाक्य था, 'जहाँ अज्ञान ही परमानन्द हो वहाँ बुद्धिमान् होना मूर्खता है' : व्हेयर इग्नोरेंस इज़ ब्लिस, इट इज़ फ़ॉली टु बी वाइज़ !

६ सितम्बर १९५६

३७

इन पृष्ठोंमें

स्मरणशक्ति मेरी अच्छी नहीं थी। लोगोंसे मिलता था, फिर उन्हें भूल जाता था ; पुस्तकें पढ़ता था : भूल जाता था ; जीवनको मथ देनेवाली घटनाएँ होती थीं—कैसी विचित्र बात कि मैं उन्हें भी भूल जाता था।

ठीक याद नहीं, पर शायद भूलनेकी इस आदतका निराकरण करनेके लिए ही मैंने डायरी लिखनेकी आदत डाली होगी। सोचा होगा कि भूल जाते हैं तो लाओ, लिख लें। फल यह हुआ कि मैं लिखनेपर निर्भर करने लगा और जो थोड़ा-बहुत याद रहता था, वह भी भूल जानेकी आदत पड़ गयी। बहुत कुछ ऐसा था—जो लिखा नहीं गया; बहुत कुछ ऐसा था जिसे लिखनेकी इच्छा नहीं हुई ; कुछ ऐसा भी था कि जिसे लिखा ही नहीं जा सका। आज इसी कारण, अपना जीवन और अपने इर्द-गिर्दके लोगोंका जीवन मुझे बहुत कम याद है ! पर जब भी कभी स्मृतिके तन्तु न जाने कहाँसे उभरकर जुड़ने लगते हैं तो बड़ी सिहरन होती है कि कैसा अद्भुत जीवन जिया है मैंने !

इन पृष्ठोंमें और जो भी हो, मेरा जीवन नहीं है। यदि जीवन है तो मुझसे अधिक यह आपका जीवन है। आपके द्वारा ही यह मेरा है। कभी ये पृष्ठ उलटता हूँ तो बहुत कुछ अपनेसे भिन्न और अलग जान पड़ता है। सच मानिए, यह सब मैं नहीं था और मुझमें भी न था।

२२ जनवरी १९५७

३८

जब आये थे दिल्लीमें

पूरा एक साल होनेको आया। जब आये थे दिल्लीमें तो अमलतास फूलनेकी ऋतु थी। एकान्त-सी एक सड़क थी जिसपर अमलतास-ही-अमल-

तास थें। पोले-पीले फूले हुए। बीच-बीचमें बेगमबेलियाकी गुलाबी और रक्तिम फूलोंसे लदी हुई पत्तियाँ। और यत्र-तत्र बिखरी हुई सेमलकी रुई। अमलतासके फूलोंसे उलझी हुई, पगडण्डीकी घासमें रौंदी हुई, हरएक पेड़की पत्तियों-टहनियोंपर छायी हुई सेमलकी रुई। ऊँचे-ऊँचे सेमलके पेड़ोंसे झरती हुई रुई। रुईके गाले उड़-उड़कर बँगलोंके भीतर और बाहर फैलते हुए। रुईकी चटखती हुई गुड्डियाँ!

अप्रैलकी आखिरी तारीखें। मईकी पहली तारीखें। दिल्ली एक सुहानी कविता-सी जान पड़ी थी। एक सपना कि जिसमें अमलतासकी पीली और बेगमबेलियाकी गुलाबी सूरतें थीं—और इन सबपर श्वेत, कोमल और तरल-सेमलकी रुईके मादक स्पर्श छाये हुए!····

····सूखे-सूखे पत्ते हर जगह बिखरे रहते थे। हवामें एक हलका रूखा-रूखा भाव था, जो मौसमकी सुन्दरताको और भी बढ़ा देता था। गरमी थी, लेकिन बहुत अप्रिय नहीं; रूखापन था, मगर बहुत तीखा नहीं; सूखे पत्ते थे, मगर बदसूरत नहीं।

दफ़्तर आते समय एक बाइ-लेन पड़ती थी, उसपर-के सारे पेड़ अमलतास ही थे। उफ़····

फिर गरमी आयी, बरसात आयी। जाड़ा भी। मगर दिल्ली फिर कभी भी उतनी खूबसूरत नहीं दिखायी दी जितनी कि अप्रैल-मई १९५६ में थी।····

एकके बाद दूसरा घर बदलनेके चक्करमें, वह सड़क ही खो गयी कमबख्त, जिसपर चलते क्या थे, सपना देखते थे।····

२७ जनवरी १९५७

३९

सत्रह और दो उन्नीस

मालूम हुआ कि कुछ बच्चोंने आज ओंकारको बुला रखा है। मैं

घरमें अकेले बैठा क्या करता ; बदस्तूर ओंकारके साथ गया । वहाँ एक साथ दसियों बच्चे आ गये । ओंकार उनसे बातें करनेमें लगे । मैं एक मेज के पास खड़े-खड़े कभी किताबके पन्ने और कभी टाइप-राइटरकी कुंजियाँ उलटता-पलटता रहा ।

कमरेकी दो कुरसियोंमें-से एकपर ओंकार बैठे थे । इस बीच उन्होंने बच्चियोंके नाम रख दिये थे—सुश्मा, करिश्मा और चश्मा !

ये सारी बच्चियाँ और बच्चे उनको घेरे हुए पहेलियाँ बुझा रहे थे । किसीने कहा कि उन चाचाजीसे भी कुरसीपर बैठनेके लिए कहिए ।

ओंकारने कहा कि भई, कुरसीपर बैठो, तभी बिरादरीमें शामिल हो सकोगे ।

मैं कुरसीपर बैठा नहीं कि बच्चोंने मुझे भी अपनेमें शामिल कर लिया। मुझे बहुत अच्छा लगा । एक नन्ही-सी बच्ची मेरी गोदमें आके बैठ गयी । उसने बताया, "हम लोगोंने ओंकार भाई साहेबका नाम रखा है, मिस्टर पटाखा ।"

मुझे खूब हँसी आयी । इन बच्चोंने सत्येन्द्रका नाम रख छोड़ा है—'बहुत सारे लोग ।' मेरा मन हुआ कि ये बच्चे मेरा भी कोई नाम रखें ।

तरह-तरहकी बुद्धि-परीक्षाएँ होने लगीं और सबपर ख़ुशी छायी रही ।

फिर चाय शुरू हुई और बाहरसे कुछ लोग आ गये । बच्चे तितर-बितर हो गये । जब देखा गया कि वे बाहरी लोग टलनेका नाम ही नहीं ले रहे हैं, तो बच्चोंने हम लोगोंको भीतरके कमरेमें बुलाकर बातें शुरू कीं। पहले दर्जेसे लेकर एम० ए० फ़ाइनल तकमें पढ़नेवाले बच्चे !

करिश्मा और सुश्माका चेहरा मिलता-जुलता-सा, कपड़े एक-से, और बुन्दे भी एक-से । उम्र भी बराबर ।

एक लड़का बिलकुल शान्त। दूसरा छतकी घन्नीपर चढ़ जानेको आतुर। एक बच्ची बिलकुल पास सटकर खड़ी हुई लेकिन नाम पूछो तो बताती ही नहीं । दूसरी लड़की कानमें कहती कि—'फूलका पर्याय है इसका नाम ।'

अब मैं पूछ रहा हूँ—'पुष्पा ?' तो वह बोलती ही नहीं। 'कुसुम ?' तो वह बोलती ही नहीं। 'सुमन ?'—तो वह धीमेसे मुसकराकर हामी भरती है। कितना अच्छा लग रहा है। नींदके मारे अर्चनाकी आँखें झुकी पड़ रही हैं। बालोंमें क़रीनेसे बँधा हुआ गुलाबी रिबन दमक रहा है। बिलकुल गोल चेहरा, गोरा और भोला, अर्चनासे पूछा कि नींद लग रही है ?—तो अर्चनाने अधमुँदी आँखें पूरी मूँदकर सिर हिला दिया।

फिर अर्चना डगमगाते पैरोंसे सोने चल दी, लेकिन बाक़ी सारे बच्चे, लगता है कि सारी रात जागते रहेंगे। करिश्मा मेरे पास बैठी है और सुश्मा मेरे सामने दूसरी चारपाईपर। मैंने कहा कि तुम दोनोंकी शक्ल तो ऐसी मिलती है कि मैं पहचान ही नहीं पाता कि कौन सुश्मा है और कौन करिश्मा !

दोनों बच्चियोंने ताज्जुबसे अपनी ताईजीसे पूछा है, "क्यों ताईजी, सचमुच ?" ताईजीने मुसकरा कर कह दिया है "हाँ, हाँ। और क्या।"

तब क्या हुआ कि चुपकेसे 'करिश्मा' मेरे पाससे उठी और जाके दूसरी चारपाईपर बैठ गयी। फिर 'सुश्मा' उठी और मेरे पास आके बैठ गयी। मेरा कन्धा हिलाके पूछा उसने "अच्छा बताइए, मेरा नाम क्या है ?"

मैंने ग़ौरसे देखा उसे और बहुत सोचकर, जवाब दिया "हुँह, क्या मैं इतना भी नहीं पहचान सकता। तू तो 'करिश्मा' है।"

सारे बच्चे खिलखिलाकर हँस पड़े। सबने एक स्वरमें मेरे हार जानेकी घोषणा करते हुए बताया कि यह 'सुश्मा' थी। 'करिश्मा' तो दूसरी चारपाईपर बैठी है।

सारे बच्चे मुझे धोखेमें डालकर बड़े खुश हुए। मैं भी बहुत खुश था। तभी फ़िलॉसफ़ीमें एम० ए० करनेवाली लड़कीने पूछा, "आप हाथ देखना जानते हैं ? मेरा हाथ देखिए सही।"

"पहले चाँदी रखिए हथेलीमें अपनी, तब तो हाथ देखा जाये।" मैंने कहा।

"चाँदी फिर रखी जायेगी।" फ़िलॉसफ़र बच्ची बायीं हथेली सामने करती हुई बोली।

"ख़ैर, दायाँ हाथ दिखाइए। मैं बायाँ नहीं देखता।" किसी बड़े 'पामिस्ट'वाले रुआबसे मैंने कहा और रेखा देखनेके बहाने सोचने लगा कि कौन-सी अनोखी बात कहकर अपने ज्योतिष-ज्ञानका सिक्का जमाऊँ!

बड़ी चालाकी बरती मैंने। यह पहले ही पता चल गया था कि बच्ची फ़िलॉसफ़ी पढ़ती है, इसलिए मैंने कहा कि आपकी 'डब्ल ब्रेन लाइन है' यानी आपमें 'इण्टलेक्ट' प्रधान है और आपकी 'केरियर लाइन' 'ब्रेन लाइनों'को 'टच' करती है: इससे मालूम होता है कि आप कोई बुद्धि-सम्बन्धी 'केरियर' अपनायेंगी।'....

मैं कुछ-न-कुछ कहते जानेके मूडमें आ गया था, लेकिन बच्चीने टोका, 'लेकिन भाईसाहब, देखिए मैं तो बड़ी 'इमोशनल' हूँ।'

यह सुनकर मैंने उसके 'इमोशनल' होनेका कारण भी उसकी हथेलीमें खोजना शुरू किया....मगर इसी बीच ओंकारने कोई चुटकुला छेड़ दिया: जिसमें मैंने जान-बूझकर इस क़दर दिलचस्पी ली कि हाथ देखना अपने हिसाबमें भूल ही गया। फ़िलॉसफ़र बच्ची किसी कामसे उठी तो एक दूसरा नन्हा-मुन्ना आके मेरे पास बैठ गया।

तरह-तरहके क़िस्से सुनाये जा रहे थे। सुश्मा मुझसे बोली, "आप 'गुड' बहुत कहते हैं।"

"अरे, वेरी गुड! तुम कैसे जान गयीं, भई।" मैंने अचरजमें डूबकर उससे पूछा। मुझे ताज्जुब हुआ कि इतनी थोड़ी देरमें कैसे इस बच्चीने मेरे प्रिय शब्दको जान लिया।

इतनेमें करिश्माने मेरे बालोंको अपनी उँगलियोंमें लपेटते हुए कहा, "आपके बाल बहुत अच्छे हैं।"

"सचमुच?" मैंने पूछा तो चश्मा बोल उठी, "और क्या, कितने तो घुंघराले हैं!"

मैंने आँखें मटकाते हुए कहा, "अभी क्या ! जब इनकी ड्राइ-क्लीनिङ् करायेंगे, तब देखना ।"

सारे बच्चे हँस पड़े । मैंने एक बच्चीको बताया कि जब बाल गन्दे हो जाते हैं तो मैं उन्हें समेटकर ले जाता हूँ और जाके ड्राइक्लीनिङ्वालेको दे आता हूँ । जब वह धो देता है तो मैं फिर अपने बालोंको अपने सरपै लगा लेता हूँ ।"

बच्ची थोड़ी देर दंग होकर सुनती रही, लेकिन जैसे ही उसने मेरे होंठोंपर मुसकानकी रेखा देखी, वह जान गयी कि मैं उसे झुठला रहा हूँ ।

कोई मतभेद उठ खड़ा हुआ तो बच्चोंकी गिनती की गयी । छोटे-बड़े मिलाकर दस बच्चे थे । मालूम हुआ कि घरमें कुल सत्रह बच्चे हैं । दस तो यहीं मौजूद हैं, बाक़ीका पता नहीं लग रहा है कि कौन कहाँ सोया, और कौन कहाँ दुबका हुआ है ।

"सत्रह बच्चे ?" आश्चर्यसे मेरी आँखें फैल गयीं ।

"और क्या ? किसीको नज़र न लगा दीजियेगा !" फ़िलॉसफ़रने अपने छोटे भाई-बहनोंकी तरफ़ अभिमानभरी दृष्टि डालकर कहा ।

"सत्रह नहीं, आजसे कहा कीजिए कि हमारे घरमें उन्नीस बच्चे हैं । सत्रह आप और दो हम लोग । बराबर····?" मैंने करिश्मासे पूछा ।

"बराबर उन्नीस," करिश्मा बोली और सारे बच्चोंने 'उन्नीस'का नारा लगाया ।

इस बातसे हम लोग बच्चोंके बिलकुल अपने हो गये । न सिर्फ़ बच्चोंके, बल्कि उनकी माँके भी, जो बीचमें बैठी हुई हम सारे बच्चोंमें बराबर दिलचस्पी ले रही थीं, उन माँके भी हम लोग अपने बच्चों-जैसे हो गये ।

मालूम हुआ कि सत्येन्द्रको सारे बच्चे 'चाचाजी' कहते हैं । ओंकारने कहा कि यहाँ आनेपर हम लोग भी सत्येन्द्रको चाचाजी कहा करेंगे । 'उन्नीस बच्चोंके चाचाजी'—सत्येन्द्रका नाम रखा गया । फ़िलॉसफ़र बच्चीने कहा कि आप 'उन्नीस बच्चोंके चाचाजी'पर कविता लिखिए । मैंने वायदा किया

कि ज़रूर लिखूँगा।

बच्चे छोड़ ही नहीं रहे थे और बच्चोंसे भी अधिक हमारा मन हो रहा था कि बैठे ही रहें। लेकिन "बस नहीं मिलेगी"– कहकर हम किसी तरह उठे। ज़ीनेसे उतरे। कुछ बच्चे आगे, कुछ पीछे। नीचे आकर खड़े हुए। ओंकार कुत्तेके भूँकनेपर काफ़ी डरे। बच्चे क़मीज़की बाँहें पकड़े हुए अगली बार आनेका वादा करा रहे थे। उन्होंने तारीख़ तक निश्चित कर दी थी और मैं मन-ही-मन झुँझला रहा था कि बच्चे इससे पहले आनेको क्यों नहीं कहते। हमने बच्चोंको समझा-बुझाकर वापस भेजा, "जाओ भैया, यहींसे लौट जाओ, बस स्टॉप तक मत चलो।"

फिर हम चल दिये, मगर असलमें हम इस वक़्त भी बच्चोंके पास ही थे। रास्ते भर याद आता रहा कि कैसे एक नन्ही बच्ची सोने चल दी थी, और कैसे एक सोती हुई लड़की जागकर अपने पिताकी गोदमें किलकारियाँ भर रही थी। कैसे····कैसे···· ! कितने ढेर-से बच्चे कितनी-कितनी तरहके थे। कितने अच्छे····कितने प्यारे····

१२ मार्च १९५७

४०

दफ़्तरका कमरा

जब इस कमरेमें कोई न हो तो शोरगुल पहलेसे ज़्यादा जान पड़ता है। शोरगुल कहें, या उसे पेचीदगी और उलझन कहें। जब लोग बैठे होते हैं तो उनके चेहरों और उनकी बातोंपर ध्यान केन्द्रित रहता है। जब लोग नहीं होते तो बिखरे हुए काग़ज़ों, बेतरतीब फ़ाइलों, अव्यवस्थित क़लमों-क़लमदानों और दावातोंपर ध्यान जाता है और फिर उनसे होता हुआ कुर-सियों, मेज़ों और उनकी टाँगों और फ़र्शपर पड़ती हुई विभिन्न आकारकी छायाओं और इन छायाओंके इर्द-गिर्द फैले प्रकाश-खण्डों और इन प्रकाश-खण्डोंके बीच-बीचमें चिपके छाया-खण्डों और तीन बल्बों-द्वारा बनायी हुई

एक ही वस्तुकी हलकी, गहरी, और और गहरी—तीन छायाओंपर ध्यान भटकता फिरता है। प्रकाशित धरातलपर पड़ती हुई तीनों छायाएँ एक दूसरेको काटती हैं और बिलकुल स्थिर हैं क्योंकि बल्ब भी स्थिर हैं, दीवार और फ़र्श भी, और मेज़-कुरसी, गिलास और टाइपराइटर भी। इसलिए तीन बल्बों-द्वारा फैले प्रकाश भी स्थिर हैं, और छायाएँ भी।

गुँथी और उलझी हुई वस्तुओं, और उनसे भी अधिक गुँथी और उलझी प्रतिच्छायाओंवाला यह कमरा मुझसे सहा नहीं जाता! पर इसके अतिरिक्त कोई दूसरी गति नहीं है क्योंकि रहना तो यहीं है, जाना कहीं नहीं है।

१३ सितम्बर १९५७

४१

सेहत सुधारनेवाले साहबज़ादे

हम लैम्प-पोस्टके नीचे घासपर बैठे पेन्सिलसे कुछ गोद रहे थे। एक साहबज़ादे इधरसे-उधर टहलकर सेहत सुधार रहे थे। आके खड़े हो गये सामने। बोले, "कविता लिख रहे हैं क्या?" मैंने जवाब दिया, "जी नहीं, धोबीका हिसाब जोड़ रहा हूँ।" वे बोले, "यह हिसाब फिर जोड़िएगा। अभी तो—मैंने एक कविता जोड़ी है—उसे सुन लीजिए।"

और बैठकर उन्होंने, कही तो एक थी, लेकिन, सुनायीं सात कविताएँ।

वे तो सुनाते सत्रह, पर मैंने जब उनका नाम पूछने तकमें दिलचस्पी नहीं दिखायी, तो वे छह सुनानेके बाद कुछ देर चुप रहे, और उसके बाद उठनेका उपक्रम करने लगे—उठते-उठते फिर बैठ गये और बहुत देर तक अपनी नोटबुक उलट-पलटकर उन्होंने एक और कविता—सातवीं—पढ़ी : इस बार तरन्नुमसे।

बस, मेरे तो पैर उखड़ गये। उन्हें वहीं बैठा छोड़कर मैं उठ पड़ा और इस डरसे भाग चला कि कहीं वे भी मेरे साथ ही न उठ पड़ें और मुझे दस कविताएँ और सुननी पड़ जायें।

२ अक्टूबर १९५७

१

गंगाकी धारा

आस-पासके घरोंकी बिजलियाँ एक-एक कर बुझ गयी हैं। सिर्फ़ सड़क पर बिजलीका खम्भा पीली रोशनी फैलाता हुआ एकान्तमें खड़ा है और दूर अँधेरेमें कुत्ते भूँक रहे हैं।

आलोक-रहित आकाशपर काले बादल घिर आये हैं। अँधेरा और भी घना होता जा रहा है। फीकी पड़ती हुई रोशनी मानो धीरे-धीरे बुझ रही है।

सामने पीपलपर कोई पक्षी जाग उठा है और पत्ते खड़खड़ाने लगे हैं। हवाके झोंकोंमें डोलते हुए पत्तोंका संगीत करुण है। उतनी ही करुण है सरसराती हुई हवा, बुझती-सी रोशनी, काले-काले घने मेघ और कुत्तोंकी रिरियाती हुई पुकारें।

किन्तु अँधेरेमें चमकती हुई गंगाकी लहरोंकी कल-कल ध्वनि और जल का अपार विस्तार मुझे शान्ति देता है। निश्चित गतिसे बहती हुई धारा आगे....आगे....आगे बढ़ती हुई कुछ सन्देश देती है।

१२ जुलाई १९४७

२

भीगी हुई शामें

बरसातके दिन भी कैसे होते हैं! एक खामोशी होती है और पानी झमाझम बरसता होता है। बस, यह समझो कि दुनिया-भरपर मौत-जैसा

सन्नाटा छाना शुरू हो गया। लगातार वरसनेवाली बूँदें मानो खामोशीमें खामोशीको और भी जोड़ देती हैं।

सबसे बढ़कर हैं—ये भीगी हुई शामें। अवसाद और उदासीका वातावरण! क्षितिजपर ही नहीं, हर दिशामें डूबते-उभरते बादल। सड़ककी पीली रोशनी तो और भी ग़ज़ब ढाती है। उतनी ही फीकी आसमानमें यदा-कदा सुलगनेवाली बिजली भी है। इस वक़्तकी बिजली एक ऐसा अंगारा है जो वातावरणकी नमीसे सीलकर निस्तेज हो गया है।

१७ जुलाई १९४७

३

सियारोंका संगीत

गंगा इस घरसे इतनी नज़दीक है कि कभी-कभी लगता है मानो बाहर से आनेवाली ध्वनियाँ हवा और पेड़ोंकी सरसराहटें नहीं गंगाकी ही मचलती हुई लहरें हैं।

पर इस रातके ग्यारह बजेके लगभग हवाओं और लहरोंका नहीं, गंगा के तीर स्थित खेतोंमें बसेरा लेनेवाले सियारोंका संगीत सुनायी देता है। सियारोंकी चीखके साथ स्वर मिलाकर बिजलीकी मटमैली रोशनीमें ऊँघते दो-चार कुत्तोंने भी भूँकना शुरू किया है।

नदीकी बहती हुई धारा इस क्षण ठिठक गयी होगी। नीरवता श्मशान-सी है। यह भूँकना और रोना उसे बढ़ाता है। और लहरोंका सहमना मानो कहता है: ओ स्तब्धता, बढ़ो!

पीले चाँदका काला धब्बा अब स्पष्ट हो चला है। पीला चाँद न जाने कौन-सा अव्यक्त अनुभव करके सिहरा है। गोलाकार आकाशके एक कोनेमें चमकते मन्द सितारेकी चमक अचानक बढ़ गयी है। निश्चय ही यह तारा अशुभ और अमंगलका तारा है। तभी तो यों उल्लसित होती-सा चमका है।

खेत उजाड़ हैं। गंगा बहती भी हों तो उनकी लहरोंकी कल-कल यहाँ

नहीं सुनायी पड़ता ।

यह जाड़ेकी रात प्रतिक्षण भरी-भरी और भारी होती जाती है ।

५ दिसम्बर १९४७

४

फूलके चेहरेकी रंगत

आज गुलमेंहदीके पौदेमें एक नये रंगकी कली फूली । बढ़कर उसने जब अपनी मुसकराहट फूलों-भरे चमनपर डाली तो मैंने देखा कि वह एक खुशनुमा फूल था जिसने फुलवारीके हर कोनेमें चमक फैला दी थी ।

उस फूलने हँसकर मेरे उदास और गम्भीर चेहरेको देखा और जब मैं फूलोंकी क्यारीमें-से होकर गुज़रा तो क्यारीके सारे फूल मेरी बदहवासी और पागलों-जैसे भावपर हँस दिये ।

मैंने एक उचटती हुई नज़र उन फूलोंपर डाली और आगे बढ़ चला । मेरे लिए उन फूलोंमें कोई भी आकर्षण न था । लेकिन अचानक ही, मेरी दृष्टि उस नये और खूबसूरत फूलपर गड़ गयी । मैं मानो अचानक आ मिलनेवाली खुशीसे भर उठा । पुलकित होकर मैंने हाथ बढ़ाया और उस गुलमेंहदीके फूलको तोड़ लिया ।

लेकिन मैंने अचूक दृष्टिसे देखा कि फूलके चेहरेकी रंगत उसी क्षण बदल गयी, उसका पराग झर गया और दो पंखुरियाँ बेबस होकर नीचे गिर पड़ीं । फूलकी सारी मुसकराहटें, मुरझायी आहोंमें बदल गयीं और उस क्यारीमें खिले या खिलना चाहते हुए बाक़ी फूल सहमकर काँप उठे ।

९ दिसम्बर १९४७

५

जाड़ेकी बरसात

जाड़ेकी बरसात । धीमी रफ़्तारसे बरसती बूँदें । पाकरकी छाँहमें

बसेरा लेते पंछी। अँधेरेमें काँपती हुई परछाइयाँ। गूलरके पत्तोंसे झरती हुई थकी बूँदें। आसमानमें घिरे, सपनोंकी गोदमें झूमते हुए बादल। उत्तर के काले आकाशकी तेज़ विजलियाँ। बूँदोंसे धुले हुए ठिठुरते आमके ठूँठ। सूनी सेजवाली रात। ऊजड़ खेतोंमें जागते हुए सियार। दुनियाके सोते हुए इनसान। काँपती, सिहरती और अपनेमें सिमटती-सी बोझिल रात। और यह जाड़ेकी बरसात।

४ जनवरी १९४८

६

प्रतिपल अँधियारी होती जाती

शाम जो धीरे-धीरे प्रतिपल अँधियारी होती जाती है : मुझे एक जादू से भरे देती है। आकाशमें सर्वत्र कालापन छाया है। बस, दूरके किसी गाँवमें, एक दीपकी लौ काँपती-सी जल रही है।

उस गाँव और इस घरके बीच बहुतेरे खेतोंसे होकर हवाकी ठण्डी और तेज़ लहरें आ-आकर मुझे स्पर्श कर जाती हैं। खेतोंके पार गंगाके किनारे खड़े जंगलोंसे सियारोंकी रोती हुई-सी पुकारें आने लगी हैं। हमारे बग़ीचे के पेड़ोंपर सोते हुए पक्षी, पंखोंको फड़फड़ाकर चौंके-से मालूम होते हैं।

किसे पता है कि माटीका अकेला दिआ उजियारेकी किरनको कबतक सँजोये रख सकेगा।

८ जनवरी १९४८

७

घुँघरुओंका मीठा स्वर

बाहर सड़कपर एक बैलगाड़ी चली जा रही है और दौड़ते हुए बैलोंकी घण्टियोंका स्वर इस अँधेरी रातके सन्नाटेको पार करके भी मेरे कमरे तक

आ सका है तो लगता है कि निश्चय ही शोरगुल मचानेवाली लम्बी-चौड़ी दुनिया सपनोंमें खोयी है।

रातमें आवाज़ कितनी दूर तक और कितनी देर तक सुनायी देती है। धीरे-धीरे घण्टियोंका संगीतमय स्वर दूर होता जा रहा है। बैलगाड़ीकी चूँ-चर समाप्त हो गयी है, अब बस सपने-सी जान पड़ती घण्टियोंका नाद बाक़ी है।

कोई किसान अपनी नव-वधूको विदा कराये लिये जा रहा होगा। तभी तो बैलोंके गलेका हार बनी हुई ऐसी सुमधुर घण्टियाँ लटकायी हैं।

बैलगाड़ी दूर चली गयी····झिल्ली और भूँकते हुए कुत्तोंका शोर ही शेष रह गया है। पर मुझे लगता है कि वह अस्पष्ट हो गया घुँघरुओंका मीठा स्वर अब भी मिटा नहीं। वह तो जैसे वातावरणमें भर गया है। रात-भर गूँजता रहेगा—झींगुरोंके शोरसे ऊपर, सबसे अलग, कुत्तोंकी भूँकोंसे दूर···· वे घण्टियाँ अब रात-भर बजती ही रहेंगी।

१२ नवम्बर १९४८

८

स्मृतियाँ

यह कमरा रोज़ सुबह-शाम साफ़ होता है लेकिन दोपहर और रात होते-होते इसमें पहलेसे अधिक धूल जम जाती है। तब मुझे बड़ी उलझन होती है। कुरसियों, मेज़ों और कपड़ोंपर आ बसी गर्दको देखता हूँ तो उन स्मृतियोंकी याद हो आती है जो हृदय-पटपर बार-बार यत्न करके हटा देने के बाद भी आ-आकर छा जाती हैं। कमरेकी धूल और स्मृतियोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। धूल साफ़ करो तो सिरपर आ चढ़ती है और स्मृतियाँ दूर हटानेके प्रयत्न करो तो वे दिलकी गहराइयोंमें छिपकर जा बैठती हैं।

७ जून १९५०

९

कड़ियाँ

कोई गानेके बाद खिलखिलाकर हँसा है, जैसे बाजेका कोई तीखा तार झनझनाया हो। विचारोंकी श्रृङ्खलाएँ जुड़ती हैं और टूटती हैं। कड़ियोंकी कोई गिनती है !—जोड़ते जाओ, जोड़ते जाओ, जोड़ते जाओ !

लेकिन यह ज़िन्दगी अपने-आपमें एक ऐसी श्रृङ्खला है जिसकी कड़ियाँ सदा अलग-अलग और बिखरी रहती हैं: शुरूकी कड़ी दिखायी देती है और अख़ीरकी भी; लेकिन बाक़ी सब कड़ियाँ टूटी-फूटी, उलझी-पुलझी और टेढ़ी-मेढ़ी हैं। उनमें तारतम्य बैठा पाना क्या सरल है !

७ जून १९५०

१०

दीवारोंके घेरे

इस बन्द कमरेके चारों ओर दीवारें हैं। कमरेके चारों ओर और हो भी क्या सकता है ! पर मैं हूँ कि इन खिड़कियों, दरवाज़ों और दीवारोंसे घिरकर अपनेको यों महसूस करता हूँ कि जैसे मेरे ऊपर हज़ारों मन वज़न के भारी पत्थर रख दिये गये हों और मैं उनसे छूटनेके व्यर्थ प्रयास करता होऊँ। विवशताओंकी सीमाओंसे घिरा हुआ अपनेको पाता हूँ तो अपने प्रयासोंकी निस्सारताका मुझे अधिकाधिक अनुभव होता है। मुझे यह सोचते हुए गुस्सा आता है कि ऊपरसे आकाश सिमटा आ रहा है और इस सिमटावका एकमात्र लक्ष्य मैं हूँ। मुझे लगता है कि आकाशकी बढ़ती हुई बाँहें सिर्फ़ मेरी ज़िन्दगीका दम घोंटनेके लिए चली आ रही हैं। और मेरी बेबस ज़िन्दगी व्यर्थकी पुकारें मचाती है ! चीखें उभरती हैं, और अनसुनी डूब जाती हैं !

तब !····तब मैं बन्द कमरेके चारों ओरकी दीवारोंसे कहता हूँ—अपने

घेरे और…तनिक और संकुचित कर लो, अपने दायरे और….थोड़ा और सीमित कर लो—जिससे और कहीं नहीं तो तुम्हारी ही शरणमें मैं सुरक्षित रह सकूँ।

१३ अगस्त १९५०

११

ग़लत घड़ियाँ

पता नहीं क्यों, घड़ियाँ ग़लत वक़्त बजा रही हैं। एक घड़ी मेरे हाथमें बँधी है। उसमें दस बजकर चार मिनिट हो चुके हैं। दूसरी घड़ी मेज़पर रखी है। उसकी सुइयाँ देखता हूँ तो अभी दस बजनेमें पाँच मिनिट हैं। और युनिवर्सिटीके क्लॉक-टावरने अभी-अभी रातके इस सुनसान वातावरणको भंग करते हुए दस घण्टे ठोंके हैं। तीन घड़ियाँ तीन वक़्त बतला रही हैं। कौन सही है कौन ग़लत: कुछ पता नहीं लगता। न जाने क्यों घड़ियोंका ग़लत होना मुझे बड़ी उलझनमें डाल देता है। फ़ौरन महसूस होने लगता है कि मेरे दिमाग़में भी एक घड़ी चल रही है और उसकी भी सुइयाँ ग़लत वक़्त बतला रही हैं। इसके बाद मैं अपने दिमाग़की सुइयोंकी कभी तेज़ और कभी सुस्त रफ़्तारसे इस क़दर परेशान हो उठता हूँ कि उन्हें ठीक करनेकी कोशिशनें, अपने कमरेमें कभी फुरतीसे और कभी पस्तीसे घड़ीके पेण्डुलमकी तरह डोलने लगता हूँ।

१४ जनवरी १९५१

१२

सपने—दिनके और रातके

मैं सपने देख रहा हूँ। किसीका आँसुओंसे भीगा हुआ मुख मेरे सामने उभरकर अस्फुट स्वरोंमें कुछ कह रहा है और मैं उसे सुन नहीं पाता। क्योंकि लैम्पकी धुँधली रोशनी मुझे मजबूर कर देती है कि इस अँधियारेमें मैं

डरावने भूतोंके चेहरे देखूँ, न कि किसीका आँसुओं-भीगा मुखड़ा। फिर भी मैं सपने देखता ही जाता हूँ क्योंकि मुझे दिनको सपने देखना बहुत पसन्द है। ठीक दोपहरमें अपने कमरेके दरवाज़े-खिड़कियोंको बन्द करके अँधेरा फैलाकर दिनको रात बना देना मुझे बड़ा ही पसन्द है। रातके सपने ईश्वर भेजता है, पर दिवा-स्वप्नोंका निर्माण तो मैं स्वयं कर लेता हूँ। इसीलिए ईश्वरकी दी हुई किसी चीज़पर मेरा विश्वास नहीं जमता। जब वह आशा और विश्वासके सपने नहीं दे सकता तो भला और क्या देगा!

इसीलिए मैं दिनको सपने देखता हूँ, क्योंकि दिनका बादशाह मैं हूँ और दिनके सपने ठीक वैसे बनते हैं जैसे मैं चाहता हूँ। चाहूँ तो सफलताओंके चित्र खींच लूँ, चाहूँ तो प्रेम और सौन्दर्यकी अनन्त निधियाँ इकट्ठी कर लूँ। यह सब मेरे हाथकी बात है। और रातको मैं बेवस हो जाता हूँ। नींदपर मेरी कल्पनाओंका जादू नहीं चलता। सो जानेके बाद ऐसे-ऐसे डरावने चेहरे और भयंकर स्वप्न दिखायी पड़ते हैं जिनके विचार-मात्रसे मैं काँप उठता हूँ।

६ अप्रैल १९५१

१३

इन्हें कैसे पारें ?

दीवारें!
सिर्फ़, बड़ी ऊँची दीवारें!
ऐसी ही हारें—
ज्यों ऊँची दीवारें—
या गहरे नदकी
लहराती मँझधारें!
(इन्हें कैसे हम पारें ?)

२५ जनवरी १९५४

१४

शर्त

जनवरी सारी इस तैयारीमें कटी कि वार्षिक डायरी खरीदेंगे, एंगेजमेण्ट पैड लायेंगे, सारे कार्य-क्रमों और व्यस्तताओंका विवरण लिखेंगे और सादे पन्नोंको ख़ूब रँगेंगे। अब जो यह सब चीज़ें जाकर फ़रवरीमें हासिल हुई हैं तो लगता है कि जनवरीमें बड़े कार्य-क्रम थे : बहुतसे प्रोग्राम : फ़रवरीमें तो एक भी नहीं है और कौन जानता है कि आनेवाले अगले महीनोंमें प्रोग्राम नामकी चीज़का ज़िक्र ही न हो।

लेकिन खैर, न बड़े सही, छोटे-मोटे काम तो हर दिन ही निकलेंगे, मसलन : खाना, सोना, घूमना। यही क्या कम हैं ! इन्हींमें मज़ा लो, यह शर्त है !

२३ फ़रवरी १९५४

१५

ममताहीन डाइन

प्रत्येक दृश्यको कैसे और कहाँ तक बाँधोगे ? लो, वह चिड़िया उड़ी, उड़कर टेलिफ़ोनके तारोंपर बैठ गयी। देखो, रेलकी पटरीकी बग़लसे वह राह कटी और मुड़ती हुई पेड़ोंके झुण्डमें खो गयी। ऐसी ही राहोंपर चलने के सपने देखे हैं तुमने ? लेकिन ट्रेन भागी जा रही है, उतर तो सकते नहीं ! अब····

धानके हरे और पीले खेत आ पहुँचे : इन्हें देखकर आँखोंको अक्षय सुख मिला। पर इन्हें देखते क्योंकर रह सकोगे? ट्रेन तो आगे बढ़ आयी।

एक ठूँठ पीछे छूट गया····वर्षासे धुला हुआ····साफ़-सुथरा, सुन्दर। ठूँठ भी अच्छा लगा ! क्या इसलिए कि हर गुज़री चीज़ ख़ूबसूरत मालूम होती है ? या यह सोचकर कि वह कभी सुन्दर रहा होगा ?

रेल कूकती हुई भागी चली जा रही है....। आग और लोहेकी इस डाइनमें ममता नाममात्रको नहीं है, वरना रुककर उस उजली पगडण्डीसे गले भेंटती ही !

६ नवम्बर १९५४

१६

अंकित होने दो

नया साल तीस दिन पुराना पड़ गया। नया दिन भी रातके दस बजे तक पहुँचकर अब बाईस घण्टे पुराना हो गया। और पेशानीपर हलकी-गहरी रेखाओंवाला यह व्यक्ति? यह भी तो इस संसारमें लगभग इतने ही वर्ष पुराना हो चुका है।

यह कमरा, मेज, रोशनी और दीवारें—यह सभी कुछ पुराना है और प्रतिक्षण तेज़ीसे पुराना होता जा रहा है।

तो क्या प्रत्येक वस्तुकी समस्या यही है कि वह नयीसे पुरानी होती चलती है? तो क्या इससे समस्याका हल यह है कि पुराना पड़नेसे बचो और नया बने रहनेका यत्न करो।

ऊपरसे देखनेपर तो समाधान ठीक जान पड़ता है। सच ही है: नये बने रहो !

लेकिन इस अछूती और कुँवारी कॉपीको तो देखो, अभी इसका एक भी पृष्ठ पूरा रँगा नहीं गया। अभी तो यह सारीकी-सारी कोरी पड़ी है। कॉपी और उसके पृष्ठ बोल सकते होते तो क्या वे कोरा पड़े रहना पसन्द करते? नहीं, नहीं! ये तो चाहते कि रँगे जायें और खूब रँगे जायें। एक के बाद-एक पृष्ठ धड़कते हुए दिलसे अनजान और अप्रत्याशित लिखावट-की प्रतीक्षा करें!

'प्रतीक्षा'का स्पन्दन और 'रंजित' होनेकी पुलक !

इसलिए, माथेपर चिन्ताओं और बढ़ती हुई वयकी छापे लिये हुए ओ

नवयुवक, इस बातसे क्यों व्यग्र हो कि अब प्रतिपल पुराने पड़ते जाओगे ? जीवन और समयकी लिपिको अपने शेष कोरे पृष्ठोंपर अंकित क्यों न होने दो ? और इसके साथ-साथ वर्तमानका वह स्पन्दन सुनते रहो जो निरन्तर कानोंमें जीवनका मन्त्र-सा फूँकता है—'ग्रो ओल्ड एलाँङ् विद मी, द बेस्ट इज़ यट टु बी। द लास्ट ऑव लाइफ़ फ़ॉर व्हिच द फ़र्स्ट वॉज़ मेड।'

मित्र ! आनेवाले प्रत्येक क्षणके साथ वयस्क होते चलो। पुराने होते चलो। जो 'सर्वश्रेष्ठ' है, वह अब भी 'होने'को है। झिझको मत कि 'सब कुछ' तुममें-से व्यक्त होकर तुम्हें रिक्त किये जा रहा है। डरो मत कि 'बहुत कुछ' वर्तमान होकर तुम्हें अतीत बनाये देता है। याद रखो, याद करो—'अन्तिम····जिसके हेतु प्रथमकी रचना हुई थी····'

ओ, कोरे पृष्ठोंको अंकित होने दो !

३१ जनवरी १९५५

१७

भटकने दो

जहाँ भी यह मन भटके, भटकने दो। तुम इसपर बहुत बन्धन लगाते हो, तुम इसे बहुत पीड़ित करते हो। दुःखका कारण न होनेपर भी तुम इसे दुःखी बनाते हो, सुखका कारण होनेपर भी इसे सुखी नहीं रखते।

यह कुछ कहना चाहता है, पर तुम इसपर अनावश्यक मौनकी चट्टान लाद देते हो, यह कुछ बहना चाहता है पर तुम अवरोधोंके दायरेमें इसे जकड़े रहते हो। कहीं कुछ छूट न जाये, मुक्त न हो जाये, द्रव न बन जाये !

१६ मार्च १९५६

१८

वही सूरत

वही मूरत
घूरत-घूरत जब थक गये····
तब आया वह महूरत
कि उससे दूरत-दूरत
हम पहुँच गये सूरत।
हाय ! यह तो वही सूरत !

१९ मई १९५७

१९

ओ, जो समर्थ हो

'वाणीकी दीनता, अपनी मैं चीन्हता।' और अपनी दीनता ? क्या वह अपनी 'दयनीयता'का ही दूसरा नाम है ? क्या दीन होनेसे ही कोई दयनीय हो जाता है ?

'दीन' हम हों सही, पर हमें दयनीय समझनेवाला क्या स्वयं अपनी जगहपर दयनीय नहीं हो जाता ?

किसीको किसीपर दया करनेकी सुविधा हो तो हो, लेकिन इसी कारण क्या दया करनेका हक़ भी मिल जायेगा ?

नहीं, जब दुनियामें सभी लोग 'एक-से बेचारे' हैं, और अलग-अलग हर एकको अपनी 'बेचारगी'से उपजनेवाली 'सामर्थ्य'को विकसित करनेकी छूट भी मिली है, तो क्या कारण है कि यह सामर्थ्य विकसित होकर अलग-अलग लोगोंकी अलग-अलग ढंगकी 'शक्ति' बन जाती है और वह अपनी निजी 'बेचारगी', जिससे कि यह 'शक्ति' उपजी है, बिल्कुल बिसर जाती है ?

तो क्या यह 'शक्तिका भय' है, जो हमारी बेचारगीको विस्मृत करा देता है ?

तो क्या 'बेचारगी' मात्र इस बातका ज्ञान है कि हम कितने 'क्षुद्र' और 'कुछ नहीं' हैं ?

ओ, जो सब-कुछ देनेमें समर्थ हो ! मुझे अपनी दीनता चीन्हनेकी शक्ति दो !

२३ जुलाई १९५७

२०

पूर्ण स्वस्थ

खूब भीगे, खूब भीगे। और पल-भरको भी यह चिन्ता नहीं हुई कि बीमारीसे अभी उठे हैं, भीगे तो फिर बीमार न पड़ जायें ! जब चिन्ता नहीं व्यापी तो आश्वस्त हो गये कि अब पूर्ण स्वस्थ हैं।

पूर्ण स्वस्थ होनेका सौभाग्य हमें कभी-कभी ही मिल पाता है ! पूर्ण स्वस्थ : यानी सिर भारी नहीं, फुड़िया-फुन्सी नहीं, पेट खराब नहीं, जुकाम नहीं, थकान नहीं। हाज़मा दुरुस्त, ताज़गी, फ़ुर्ती और मन हुलाससे भरा हुआ। पसीनेकी चिपचिपाहट नहीं, गन्दे कपड़ोंकी गिजलाहट नहीं, और लम्बे बाल या बढ़ी दाढ़ी नहीं। रक्तसंचार सुव्यवस्थित, दिमाग़ अपनी सही जगह रहकर सोचने या न सोचनेके लिए मुक्त।

ये सारी दशाएँ पूरी हों तो पूर्ण स्वस्थ होएँ ! पर ये सारी दशाएँ पूरी कहाँ हो पाती हैं ! हम पूर्ण स्वस्थ कहाँ रह पाते हैं !

जूता पानीसे भरा हुआ, कपड़े पानीसे शराबोर, बालोंसे बूँदें झरती हुई, चश्मेके शीशे-उँगली-रूपी 'वाइपर'के निरन्तर प्रयोगके बावजूद बिलकुल धुँधले, रास्ता सूझता नहीं, सड़कोंपर अँधेरा और पानी भरा हुआ, दूरका सफ़र तय करना, भूख लगी हुई, बारिशके अनवरत शोरसे सन्नाटा और भी बढ़ता हुआ, कमज़ोर शरीर, कमज़ोर आँखें !

मगर न जाने क्यों यह बहुत भीगना बहुत अच्छा लगा। मन हुआ कि यह बारिश कभी रुके नहीं, यह सड़क कभी खत्म न हो, और वह घर कभी मिले ही नहीं—जहाँ हमें पहुँचना है! बस, भीगते और भीगते ही चले जाते रहें।

पूर्ण स्वास्थ्यके बारेमें सारी धारणाएँ ही बदल गयीं। यदि बरसातमें भीगते रहकर हम पूर्ण स्वस्थ बने रह सकते हैं, तो फिर चिलचिलाती धूप में गरमी और पसीनेसे शराबोर होकर क्यों नहीं? खराब हाज़मे या दुखते हुए सिरके बावजूद क्यों नहीं?

२५ जुलाई '१९५७

१

द क्रेसेण्ट मून : टैगोर

"गन्नेके खेतोंके बाहर। साँझके झुटपुटेमें गीतोंकी रेखाएँ बनाते और मिटाते हुए।...

"तारोंके नीचे अकेले पथपर। पत्थरोंको बटोरकर फिरसे बिखेर दो। पीत मुसकान। लहरोंका अव्यक्त, अर्थहीन संगीत। उस आसमानमें जहाँ कोई भी राह नहीं थी, उसकी आँखें अपने पथका अनुसन्धान कर रही थीं; उस सागरमें जिसकी लहरोंमें सम्भवतः एक मौन निमन्त्रण था, उसके पग नाच उठनेको उत्सुक थे; उस क्षितिजमें जहाँ उसकी सूनी आँखें अटकी थीं—वहाँ वह किसका चित्र अंकित देख रहा था, यह कौन बताये !

"परियोंका गाँव। वनकी उन छायाओंमें जो जुगनुओंसे धीमे-धीमे प्रकाशित थीं। दूजके चाँदकी एक हलकी-सी किरनने डूबते हुए पतझड़के बादलको चूम लिया। ओससे धोयी हुई सुबहके सपनेमें वह मुसकान फूटी। नन्हा दूजका चाँद।

"गोधूलिके आकाशमें उड़ती हुई सपनोंकी परी-रानी तुम तक आ रही है। वह जो अपना संगीत सितारोंको सुनाता है—तुम्हारे द्वारपर अपनी वंशी लिये हुए खड़ा है।

"शामको मैं बाँसके जंगलकी मरमर करती हुई निस्तब्धतामें जाकर झाँकूँगा जहाँ जुगनू अपना प्रकाश बिखेरते हैं। मैं वहाँकी प्रत्येक वस्तुसे पूछूँगा—मुझे क्या कोई बता सकता है कि नींद चुरानेवाला कहाँ रहता है?

"जब मेरे जीवनकी कली विकसित भी नहीं हुई थी, तभी तुम मेरे ऊपर सौरभ बनकर क्यों छा गये ?

"पतझड़के उस दिनको क्या कहा जाये जिसमें आकाशपर फटे-फटे बादल अलसायी गतिसे चलते रहते हैं और पेड़ोंकी पीली पत्तियाँ लगातार सुबहसे शाम तक गिरती रहती हैं।

१७ अगस्त १९४८

२

रॉबर्ट फ्रॉस्टकी कविता

'मैं खेतों-जंगलोंमें हो आया, पहाड़ियोंके पारकी दुनिया देख आया, सड़ककी राह घर लौट आया। पत्तियाँ मर गयी हैं और मर रही हैं। दिल अब भी दर्द करता है कि ढूँढ़ो, पर पैर पूछते हैं—किधर ? सबोंके झुकाव की तरफ़ चलना क्या दग़ाबाज़ीसे कम है ? प्रेमका अन्त हो गया, मौसम का अन्त हो गया—यह झुककर बुद्धिके ही द्वारा मान लेना क्या दग़ाबाज़ी से कम है ?

"मैं बहुत-कुछ ढेर बटोर कर ले चला। बहुत सँभाला, बहुत तरहसे सँभाला, पर गिर ही गया। क्या हुआ, फिर और अच्छा ढेर बनायेंगे, और ठीक तरहसे सँभालके ले चलेंगे।

"पतझड़के दिन हैं। द्वारेका कुँआ सूख गया। घरके पिछवाड़े खेतों-पार नाला है। डोल-घड़े ले लो, वहींसे भर लावें। कहीं वह भी सूख गया हो तो ? पेड़ोंमें एक पत्ती नहीं है। साँझ सुहावनी है, पर ठण्डी। सब कैसे दौड़ते हैं, जैसे उगे हुए चाँदसे मिलने जा रहे हों।

"टूटा चाँद पछाँहमें गिर रहा था, और सारे आसमानको अपने साथ पहाड़ियोंपर घसीट रहा था। मैं देखूँगा कि वह छोटा-सा टूटा बादल चन्द्रमा में निशान लगाता है या नहीं !

"कौवेने पेड़ परकी बर्फ़ मेरे ऊपर बिखेर दी। दिन-भरकी उदासी दूर

हो गयी। घास सूख रही है। सेब पक रहे हैं। छोटे-छोटे बसन्ती ताल थरथर-थरथर हो रहे हैं।

"सब नाले पूरबके समुद्रकी ओर बहते हैं! यह पश्चिमको क्यों बहता है? दुनिया भी उलटी चलती है—अपने सोतेकी तरफ़! जो छिपते हैं, उन्हें अपने-आप अपनेको जताना पड़ता है, चाहे वह लुकी-छिपौवलवाले लड़के हों, चाहे ईश्वर!

"बहुत दिनके बिछुड़े मिले तो मुझे ही पूछा, मेरे फूलोंको नहीं, जिन्हें चुनने इतने दिन गया था!

"प्रलय होगी तो आगसे या बर्फ़से? संसारमें वासना प्रबल है—आग से ज़रूर होगी। अगर दूसरी बार होनेको होती तो बर्फ़से होती—द्वेष भी काफ़ी बढ़ा है!

"बड़े-बड़े पेड़ हैं, पर जंगल अनन्त क्यों नहीं हैं?"

७ जनवरी १९४९

३

लोकगीतोंकी दुनिया

मैथिली लोकगीतोंका संसार अत्यन्त भावपूर्ण है। शायद अन्य प्रदेशोंके लोकगीतोंसे मैथिली गीत अधिक मधुर हैं—

"आममें बौर लग गये, महुआ चूने लगा। लेकिन हे सखी, मेरे प्रियतम नहीं आये! दीएकी लौ मन्द पड़ गयी लेकिन मेरे प्रियतम नहीं आये!"

"राजाके पोखर-किनारे एक चम्पाका गाछ है जी! झर-झर चूता है चम्पाका फूल। बेली और चमेलीके फूल भी बग़ीचामें लहराते हैं। एक कलीका फूल, दो कलीका फूल। न दोकड़ा है मेरे पास और न दमड़ी। हाय, कैसे ख़रीदूँगी चम्पाका फूल मैं और कैसे पहनूँगी बेलीका फूल!"

लोकगीतोंकी मनमोहकताका एक कारण यह भी है कि वे अत्यन्त

निश्छल रूपमें हृदयकी वेदनात्मक अनुभूतियोंको अभिव्यक्ति देते हैं। लोक-गीतोंमें सबसे अधिक भावपूर्ण वे ही होते हैं जो दुख-दर्द-अभाव या विरह की कथा कहते हैं। एक राजस्थानी विदा-गीत उस दिन पढ़ा : "पर्वत, ऐ मेरे पर्वत राजा! तू ज़रा नीचे झुक जा, जिससे मैं अपनी बाईको दूर तक देख सकूँ, जिससे मैं उसकी सुरंग चुनरिया दूर तक देख सकूँ। ओ मेरे पर्वत-राजा! ज़रा नीचे हो जा, जिससे मैं अपने प्यारे जमाईको आँख-भर देख सकूँ और देख सकूँ उसकी पँचरंग पगड़िया!"

१३ मार्च १९४९

४

साहित्यिकीकी शरत्-जयन्ती

हम लोगोंने शरत्-जयन्ती कैसे मनायी; इसकी भी एक कहानी है। उन दिनों मैं 'बाणभट्टकी आत्मकथा' पढ़ रहा था। ग्यारह तारीखकी बात है कि शामको कमलेश्वर आये और उन्होंने साहित्यिकीकी प्रस्तावित विज्ञप्ति मुझे दिखायी। १३ सितम्बरको ५ बजे केपीके धर्मवन्त हॉलमें शरत्-जयन्ती मनानेका निश्चय हुआ था। कार्य-क्रम इस प्रकार था—

१. जितेन्द्र : देवदास और शरद्

२. ओमप्रकाश : शरत्की एक कहानीका पाठ

३. गंगाप्रसाद श्रीवास्तव : श्रद्धांजलि

इसके अतिरिक्त श्रीकृ—और श-को बुलाकर भाषण दिलवानेका भी विचार था ताकि सभामें कुछ गौरव आये।

मैंने सुझाया कि अगर किसीको बाहरसे निमन्त्रित करना है तो चाय-पानीका ठीक-ठाक प्रबन्ध होना चाहिए, यह अच्छा नहीं लगता कि बुला लिया और सूखा-साखा लौटा दिया। कमलेश्वर सहमत हुए और मार्कण्डेय तथा ओमसे सलाह ले लें, ऐसा कहकर चले गये। कुछ देर बाद जब ओंकार आये तो मैंने उन्हें योजना बतायी, उन्होंने चुपचाप सुन लिया। फिर जितेन्द्र आये—भीगा

कोट, भीगा पतलून कीचड़से लथपथ साइकिल-जूते। उन्होंने हुक्म दिया कि चाय वने। चाय तैयार हो ही रही थी। जितेन्द्रने वताया कि वे तो देवदास-पर व्याख्यान देंगे। मैंने आक्षेप किया कि व्याख्यानवाली वात ठीक नहीं, आप निवन्ध लिखिए। काफ़ी झकझकके वाद जितेन्द्र मान गये—हाँ भाई, लिखकर ही कुछ पढ़ूँगा।

अवतक ओंकारने कुछ सोच लिया था, मुझसे कहा कि न हो तो इस अवसरके लिए शरदपर कोई लेख लिख डालो।

मैंने असमर्थता दिखायी और कहा कि मुझसे न वनेगा, तुम लिखो।

घण्टे-दो घण्टे वाद जितेन्द्र उठे। मुझसे कहा कि रातको आठ वजे ओम तुम्हारे पास आयेगा, उससे कह देना कि दा— और अ—को निमन्त्रित करने का विचार छोड़ दे।

रातमें आठ वजेके लगभग ओमप्रकाश और वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता आये। वुलायें या नहीं, इस विपयपर वहस होती रही। मुझे चेस्टरफ़ील्डकी याद थी—किसीको न वुलाना अच्छा है, मगर वुलानेके वाद इज़्ज़त न करना नहीं अच्छा।

ओंकार इस सारे दौरानमें निर्विकार होकर 'प्रतीक' पढ़ रहे थे। ओमने छेड़ा—ओंकार, भाई तुम्हारा डिस्टरवेंस होता हो तो हम लोग दूसरे कमरे में चले जायें। ओंकार अपने हिसाव चौंके और उन्होंने दिलचस्पी लेनी शुरू की। अव चार जनोंने मिलकर शरत्-जयन्तीका प्रोग्राम वनाना चाहा।

ओमने कहा :-मैं शरत्की एक कहानी पढ़ूँगा—'तसवीर'।

मैंने वताया कि 'तसवीर'से अच्छी कई दूसरी कहानियाँ हैं—'विन्दोका लल्ला', 'पण्डितजी', 'सुमति' वग़ैरा।

ओंकारने भी कहा : शरत्की कहानी पढ़नेसे तो अच्छा है कि ओम-प्रकाश खुद अपनी कहानी पढ़े। यह शरच्चन्द्रके लिए सवसे वड़ा सम्मान होगा।

ओमने वात साफ़ की : भाई, इरादा यूँ था कि शरत्की कहानी पढ़ी जाये

और उसपर विचार-विमर्श हो।

ओह !– ओंकारने कहा, यह तो बड़ा अच्छा है लेकिन एक कहानीको लेकर शरत्का क्रिया-कर्म करनेसे अच्छा होगा कि साहित्यिकीके सब सदस्य शरदका एक उपन्यास पढ़ें और उसपर एक-दो पृष्ठ लिखकर लायें। उदाहरणके लिए सब लोग 'विराज बहू' पढ़ें। आजकल यह उपन्यास बड़ा प्रचलित है।

ओंकारने अभी दो दिन हुए 'विराज बहू'को पढ़ा था और उसकी खासी चर्चा करना चाहते थे। उनके सुझावका ओम और मेंहदीरत्ताने स्वागत किया।

एक प्रस्ताव आया कि जयन्ती कुछ दिनके लिए स्थगित कर दी जाये और सब लोग 'पथका दावेदार', 'श्रीकान्त' या 'शेष प्रश्न' पढ़ें। वरना यह तो कोई बात न हुई कि एक महान् साहित्यकारकी जयन्ती हलके-फुलके ढंग से मनायी जाये।

यह क़रीब-क़रीब तय-सा हो गया। और अब आम बातचीत शुरू हुई।

फिर ओम भावावेशमें आ गये—आह ! देवदास ! क्या चीज है ! मैंने देवदास फ़िल्म कमसे-कम एक दर्जन बार देखी और हर बार पसन्द की।

ओंकार और मुझे देवदास फ़िल्म पसन्द नहीं आयी थी। इसलिए हम सिर्फ़ यह कहकर रह गये कि उपन्यासका प्रभाव तो समूचे देशपर जरूर पड़ा, फ़िल्मकी श्रेष्ठता सन्देहास्पद है।

यह सलाह हुई कि साहित्यिकीके सारे सदस्य शरत्पर एक-एक निबन्ध लिखें और वे सारे निबन्ध जयन्ती-गोष्ठीमें पढ़े जायें। अन्तमें उन्हें पुस्तक रूपमें प्रकाशित करनेका आयोजन किया जाये। यही तरीक़ा लोगोंकी इज्जत बढ़ानेका है, वरना कोई फ़ायदा नहीं।

इसके लिए ओंकारने निश्चित किया कि शरत्-जयन्ती दो दिन हो। पहले दिन निबन्ध पाठ, दूसरे दिन पढ़े गये निबन्धोंपर आलोचना।

किसीने कहा कि शरत्-सप्ताह क्यों न मनाया जाये !

ओम बोला—शरत्-वर्ष मनाया जाये तो क्या बुरा है ?

अब शरत्, शेक्सपीयर और रवीन्द्रकी तुलना करते हुए गरमागरम बहस होने लगी। यह बात ज़ोर देकर कही गयी कि शरत्ने हिन्दी साहित्यकी जड़ें हिला दीं, नींवको धक्का दे दिया। इसपर ओंकारने कहा कि अगर ओम साहब ऐसा सोचते हैं तो वे 'शरत्का हिन्दीपर प्रभाव' शीर्षक लेख तैयार करें और उसके जवाबमें ओंकारनाथ यह सिद्ध करेंगे कि हिन्दीको रवीन्द्रने प्रभावित किया है शरत्ने नहीं।

ओम कुछ धीमा पड़ा—रवीन्द्र हिन्दी कविताकी जड़ हैं, शरत् हिन्दी गद्यका प्राण हैं।

यह झगड़ा निपट गया किसी तरह। ओंकारने कहा कि वे बच्चनजीपर एक लम्बा निबन्ध लिखकर कभी पढ़ेंगे। मैंने बताया कि ऐसी दशामें मैं भी एक लेख लिखूँगा। तो वीरेन्द्रने सलाह दी कि इस वर्ष हिन्दीके प्रत्येक साहित्यकारकी जयन्तियाँ मनायी जायें और उनमें पहले बच्चनजी हों। अब बच्चनजीसे लेकर गोपेशजी तककी जन्म-तिथियाँ देखी गयीं।

साढ़े दस बजे रातको वीरेन्द्र और ओम गये। हम लोगोंने खाना खाया। मैंने 'बाणभट्टकी आत्मकथा' पढ़नेमें मन लगाया। साढ़े ग्यारह बजे जितेन्द्र वापस लौटे। ईज़ीचेयरपर आरामसे लेट गये और उसी स्थितिमें लेटे-लेटे उन्होंने कपड़े बदले। मैं जानता था कि अब वे सिगरेट सुलगायेंगे और जयन्तीका ज़िक्र करेंगे। वही हुआ। उन्होंने मुझसे देवदासपर सवाल करने शुरू कर दिये। वे बहस करनेके मूडमें थे। लेकिन मैं जल्दी ही सो गया।

बारह सितम्बरका दिन आया। आज बिलकुल सन्नाटा रहा। कोई नहीं आया। जयन्तीका प्रोग्राम खटाईमें पड़ा-सा जान पड़ा। कॉफ़ी-हाउसमें रामस्वरूप मिले। उन्हें मैंने जयन्तीकी सूचना दी।

तेरह तारीख़। आज जयन्ती होनेको थी। कमलेश्वरके आनेपर जल्दी-जल्दी प्रबन्ध हुआ। सब अपने लोग ही उपस्थित थे। मुझको ही सभापति बना दिया। ओम देरसे आये। जो कहानी उन्हें पढ़नी थी, वे नहीं लाये

थे। जितेन्द्रने भी देवदासपर निबन्ध नहीं लिखा था। आखिरकार 'शेष प्रश्न'पर रामस्वरूपने निबन्ध पढ़ा। शरत्की रचनाओं और जीवनीकी, एक बंगला पुस्तककी सहायता लेकर, चर्चा की। ओंकार, सुरतदास और परदेसीने कविताएँ पढ़ीं। और इसके पश्चात् यह : कुल मिलाकर अच्छी : मीटिंग खत्म हुई।

तबसे, यानी उक्त मीटिंगके बादसे जो-जो छीछालेदर और तू-तू मैं-मैं हुई है और जिन तथा जैसे आरोपोंका खण्डन-मण्डन हुआ है : उसके बारेमें मौन रहना ही अच्छा होगा। पर ऐसी सारी-की-सारी 'बाद को बातें' उन लोगोंको निश्चय ही विदित होंगी जिन्हें कभी भी ऐसे दुर्भाग्यसे होकर गुज़रना पड़ा है कि उन्होंने किसी साहित्यिक उत्सवमें हिस्सा लिया हो, या उसका प्रबन्ध किया हो।

१८ सितम्बर १९५१

५

परिमलके कुछ सदस्य

सर्वेश्वरजीको देखकर मुझे किसीकी याद आती थी पर एक अरसे तक मैं यही न जान पाया कि वह व्यक्ति है कौन जिसकी याद मुझे सर्वेश्वरको देखनेपर आती है! फिर अचानक मुझे खयाल आ गया और मन-ही-मन मैं बड़ा खुश हुआ। खुशीकी बात थी भी—सर्वेश्वरको देखकर मुझे सम्पूर्णानन्दजीकी याद आती थी। जिस दिन मैंने यह सत्य उद्घाटित किया, उस दिनसे सर्वेश्वरके साथ कुछ मोह-जैसा हो गया।

लेकिन यह सब दूर-दूरसे था। सर्वेश्वरसे मेरा परिचय तक न था। एक दिन अचानक उनके घर जाना हो गया। नया 'प्रतीक' आया था और उनकी कविता 'घास काटनेकी मशीन' हमें पसन्द आयी थी। पसन्द आयी थी तो यह तय पाया गया कि चलें सर्वेश्वरके घर जाकर बधाई दे आयें। उस दिन उनसे जमकर बातें हुईं, कविताएँ सुनी गयीं। वे उन दिनों

ऑफ़िससे छुट्टी लेकर उपन्यास लिख रहे थे।

धीरे-धीरे यह परिचय बढ़ता गया और अब यह हालत है कि सर्वेश्वर खूब पसन्द आते हैं और जिस क़दर तबीयत होती है कि उनकी कविताएँ पढ़ूँ, उतनी ही तबीयत यह भी रहती है कि उनसे अकसर-अकसर मुलाक़ात होती रहे।

इसी तरह तीन-चार महीने पहले यूनियन काफ़ेमें गिरिधरजीसे परिचय हो गया। उन्होंने बहुत-सी कविताएँ सुनायीं। मज़ा आ गया। हम लोग लौटकर आये तो मेरे दिलो-दिमाग़पर वे क्षण छाये ही रहे। मैं सोचता रहा कि यह आदमी भी कैसा है! क्यों इतने मधुर गीत लिखता है?

ऐसा लगा कि गिरिधरके चारों ओर अनुभूति और प्रेरणा छायी हुई है। कुछ उनके बात करनेका ढंग, कुछ चलनेकी अदा, आँखोंकी चमक और माशे-अल्ला तन्दुरुस्ती—सब मिला-जुलाकर गिरिधरका व्यक्तित्व मुझे बड़ा विचित्र लगता है और इसीलिए शायद प्रिय भी है। मेरा मन होता है कि कभी उन्हें गिरिधर कहूँ और कभी गोपाल—कभी गोपाल, कभी गिरिधर।

भारतीजीको लेकर कुछ बड़ी मनोरंजक स्मृतियाँ हैं। पहले मैं उन्हें पहचानता न था। एक दिन, मालूम नहीं किसने, रास्ता चलतेमें बता दिया देखो, ये धर्मवीर भारती हैं। मैंने सोचा—अच्छा, यही हैं!

तबसे उनकी शक्ल पहचान गया। उन दिनों वे एक खास तरहकी जैकेट पहनते थे। नतीजा यह था कि रास्ता चलतोंकी निगाह उनपर अटकती थी। उन्हीं दिनों मैंने 'गुनाहोंका देवता' पढ़ा था तो कुछ ऐसा हुआ कि एक मज़ाक चल पड़ा। हम और ओंकार भारतीको 'नैस्टर्शियम' कहने लगे। धीरे-धीरे यह नाम काफ़ी प्रचलित हुआ। हमारे बहुत-से दोस्तोंने भारतीका यह नाम स्वीकार किया।

उन दिनों हम कुछ दोस्त हर दूसरे-तीसरे, लोकनाथकी नुक्कड़वाली दूकानपर कुलफ़ी खाने जाते थे, और पता नहीं क्या संयोग था कि भारती हमेशा वहाँ दिख जाते—कभी इधरसे जाते हुए, कभी उधरसे आते हुए।

हम लोग भारतीको देखते तो बहुत हँसते और खुश होते। चुपके-चुपके कहते—देखो, देखो, नैस्टर्शियम जा रहा है !

नैस्टर्शियमके जाने, टहलने और पान खानेकी कल्पनापर हमें बड़ी हँसी आती थी। फिर कुछ ऐसा हुआ कि भारती वहाँ कम दिखायी पड़ने लगे। हम लोग लोकनाथ पहुँचकर उत्सुकताके साथ इधर-उधर देखते। सारी परिचित चीज़ें दिखायी देतीं—भाँगके नशेमें चूर कुलफ़ीवाला, रबड़ी-मलाईकी थालियाँ और मलाईपर रखा हुआ कोयला—सभी कुछ बदस्तूर रहता। लेकिन एक दुबली-पतली, साँवली, सलोनी काया न दिखती। तब एक दिन कुलफ़ी खाते-खाते रुककर ओंकारने एक लम्बी साँस भरकर कहा, पहले नैस्टर्शियम लोकनाथमें टहलता था, अब हिन्दी डिपार्टमेण्टमें उगता है।

हम लोग नैस्टर्शियमके बारेमें इस उद्गारपर जी खोलकर हँसे और तभी भारती अपना पोर्टमैण्टो लिये हुए एक ओरसे आते दिख गये।

उन दिनों भारती हम लोगोंको नहीं जानते थे। उनसे परिचय हुआ, दोस्ती बढ़ी और घनिष्ठता हुई—लेकिन कुलफ़ी खाते-खातेमें भारतीको लोकनाथकी गलीमें आते-जाते 'डिस्कवर' कर लेना अब नहीं हो पाता।

कुछ दिन बीते मैंने देखा कि भारतीने अपने घरमें फूल-पत्ती भी उगा रखी हैं। मैंने मन-ही-मन मुसकराते हुए पूछा—क्यों जी, आपने घरमें नैस्टर्शियम नहीं लगाया ? भारतीने उलटे मुझसे सवाल कर दिया—अजित, तुमने नैस्टर्शियम अगर न देखा हो तो एक दिन मेरे साथ ऐलफ़्रेड पार्क चलो, तुम्हें नैस्टर्शियम दिखायेंगे।

मैं चुप रह गया। यह भी क्या कोई कहनेकी बात थी कि ऐलफ़्रेड पार्कके नैस्टर्शियमसे कहीं अधिक प्रसन्न और सजीव नैस्टर्शियम आप खुद हैं !

रमानाथजी बड़े अवतारी जीव निकले। हम तो उनको मर्यादा पुरुषोत्तम समझे थे कि आस-पासकी फ़िज़ाँसे निरपेक्ष बैठे रहते हैं, न बातचीतमें खास हिस्सा लेते हैं, न हँसी-मज़ाक़ पसन्द करते हैं। कहा गया कि कविता सुनाइए तो मधुर स्वरमें मधुर गीत सुना दिया और फिर चुप हो गये।

के० पी० यू० सी० में शान्त-सन्त स्वभावसे आकर बैठ जानेवाले रमानाथ को जब मैंने परिमलकी गोष्ठियोंमें देखा तो लगा कि ये कायाकल्प करा आये हैं। बात-बातमें हँसी, मज़ाक़ और व्यंग्य ! हम तो अबतक समझे थे कि रमानाथ सिर्फ़ मनमोहक गीत लिख सकते हैं, घूमना, ऊधम मचाना, ठहाके लगाना औरोंके ज़िम्मे पड़ा है।

गोपेशजीसे मेरा परिचय पुराना है। तब मैं कानपुरके एस० डी० कॉलेजमें इण्टरमें पढ़ता था। कवि-सम्मेलनमें गोपेश पधारे और मेरे साथ ही ठहरे थे। उन दिनों वे सुनहली कमानीका नाज़ुक-सा चश्मा लगाते थे, लाल ओवरकोट जो अब है वह तब भी था, लेकिन चेहरेपर सुर्ख़ी तब कुछ अधिक थी। उन्होंने मंचपर बैठकर कहा था—मित्रोंका आग्रह है कि मैं अपनी बदनाम कविता 'नाम न पूछो' सुनाऊँ। लेकिन उस कवितासे पहले सुनिए—'कोकिलका स्वर।' मैं दूसरे दिन कॉलेज गया तो जाना कि गोपेशका नाम लड़कोंने रख छोड़ा था—मिस बीसवीं सदी।

अब जो उनको निकटसे जाननेका अवसर मिला है तो लगता है कि वह नाम ऐसा कुछ ग़लत नहीं था उनके लिए। गोपेशके स्वभावकी नाट्य-प्रियता, उनकी हँसी, तुनुकमिजाज़ी, उनका बात करनेका लहजा और सुन-हरी कमानीका चश्मा ! सच ही वे 'बीसवीं सदी' हैं।

ओंकार शरद बड़े प्रिय व्यक्ति हैं। उनका बातें करनेका ढंग दिलचस्प है। बोलते हैं तो जान पड़ता है कि कोई लड़की शरमाते-शरमाते बोल रही है और बोलते-बोलते शरमायी जा रही है। निश्चय ही लड़कियोंके बीच शरदकी चर्चा रहती होगी। शायद इसीलिए वे इसकी विशेष चिन्ता नहीं करते कि उनके साहित्यकी चर्चा होती है या नहीं।

परिमलके सदस्योंमें-से एक रघुवंशजी ऐसे हैं जिनके लिए मेरे मनमें एक खास तरहकी इज़्ज़त है। केपीकी सेमिनार कक्षामें कुछ दिनों तक उन्होंने मुझे पढ़ाया था और यह सोचना मुझे अच्छा लगता है कि वे मेरे शिक्षकों की उस परम्परामें आते हैं जिसका सूत्रपात मेरा अक्षरारम्भ करानेवाले

पण्डितजी द्वारा हुआ होगा। शिक्षकके प्रति विद्यार्थीकी आदर-भावना शब्दों में कहनेकी वस्तु नहीं है और कभी-कभी मुझे जान पड़ता है कि मैं उसे अपने व्यवहार-द्वारा भी व्यक्त नहीं कर पाता। पर जहाँतक रघुवंशजीका सम्बन्ध है, मैं सोचता हूँ कि वे मेरे अध्यापक न रहे होते तो भी मेरे आदरके पात्र रहते : कुछ तो अपने स्नेहपूर्ण स्वभावके कारण, और बहुत-कुछ अपनी अपूर्व जीवन-निष्ठाके कारण।

ऐसे हैं परिमलके ये कुछ सदस्य जिनसे परिचय तो नया है, पर घनिष्ठता पुरानी जान पड़ने लगी है। इनके बारेमें मुझसे कहा गया है कि लिखकर अपनी राय बताऊँ। क्या कहूँ इनके विषयमें! जो अपनेको अच्छा लगे, उसकी चर्चापर मौन ही रह जाते बनता है। पर मैं हूँ कि चुप होते-होते भी कुछ-न-कुछ कह गया हूँ।

शक्लोंको छोड़, इन लोगोंकी पोशाकें भी खूब हैं। सर्वेश्वरका काला ओवरकोट, गोपेशका लाल लबादा, श्रीहरिका दुशाला, और भारतीकी ईर्ष्या-जनक जैकेट! कलाकारोंकी वेश-भूषाका क्या कहना! निराला-तहमद और पन्त-कोट तो खैर क्लासिक हो गये, देखना यह है कि परिमली फ़ैशनवाली ये नयी पोशाकें क्या हलचल पैदा करती हैं!

२९ दिसम्बर १९५१

६

लेखककी ईमानदारी : कुछ पहलू

कल अश्कजीके घर पी. डब्ल्यू. ए. की मीटिंग थी, जिसमें यशपालजीने हिन्दी उपन्यासपर चर्चा की। अमृतराय, भारती, प्रकाशजी, भगवतशरण उपाध्याय और शमशेर सरीखे लोगोंने विचार-विमर्शमें हिस्सा लिया।

इस मीटिंगमें ईमानदारीका सवाल भी सामने आया। पर बात कुछ साफ़ न हुई। एक सबसे बड़ा सवाल यह है कि इस तथाकथित 'ईमानदारी' की जाँच कहाँपर है? लेखक खुद ही अपनी ईमानदारीका निर्णय करेंगे या

पाठकको भी मौक़ा दिया जायेगा कि वह अपनी राय आपकी यानी लेखककी ईमानदारीके बारेमें दे सके। पहली दशामें तो हर कलाकारको ईमानदार मान लेना पड़ेगा क्योंकि अपनेको झूठा या बेईमान कहलानेके लिए भला कोई लेखक क्योंकर तैयार होगा !

मगर पाठकको आपसे कई बातें पूछनी हैं। सबसे पहले यह कि अगर आप ईमानदार हैं तो उसका सबसे बड़ा सबूत आपकी रचना होनी चाहिए, आप ख़ुद उस रचनाके बारेमें या उसको लेकर अपनी ईमानदारीके बारेमें जो भी कहेंगे, निश्चित है कि वह कोई विश्वस्त साक्षी नहीं है। किसीने कहा भी है कि अगर कृतिको सम्पूर्ण रूपसे समझना चाहते हो तो उस बात पर कभी भी विश्वास न करो जो लेखक अपनी कृतिके विषयमें कहता है। ठीक ढंगसे समझनेपर यह कथन बहुत सच्चा जान पड़ेगा। यदि आपकी रचना अपनी ईमानदारी, प्रेरणा या सचाईके बारेमें स्वयं ही सब कुछ नहीं कह देती तो आप हज़ार उसको ऐसर्ट करें, उसके कच्चेपन और अभावको पूरा न कर पायेंगे।

इसलिए लेखक-पाठकके बीच पुस्तक ही सबसे सही और सबसे सच्चा रिश्ता है, जिसके माध्यमसे दोनों एक दूसरेको समझते हैं।

दूसरी बात लेखकसे सम्बन्धित है। लेखकने जो लिखा है उसकी प्रेरणा उसे कहाँसे मिली ? वह अपनी वस्तुके साथ कहाँतक तदाकार हुआ, यदि वह कथाकार है तो उसने अपनी कथा-वस्तुका कितना सीधा, प्रत्यक्ष या फ़र्स्ट-हैण्ड परिचय पाया ?

इन सवालोंको लेकर यह कहा गया है कि लेखकके लिए ज़रूरी है कि वह भारतीय ग्राम-जीवनपर उपन्यास लिखना चाहे तो गाँवोंमें जाये, रहे, वहाँकी समस्याओं-परिस्थितियोंको समझे, हर प्रकारसे गाँवके जीवनकी जानकारी हासिल करे : और इसके पश्चात् लिखे—तभी उसकी रचना श्रेष्ठ होगी।

उपर्युक्त तर्कको आगे बढ़ानेपर एक दूसरी बात मालूम हुई है। ऐसा

भी कहा गया है कि यदि लेखक मध्य-वर्गका है—जैसा कि आमतौरपर हिन्दी के लेखक हैं—तो वह मध्य-वर्गके जीवनपर ही भली प्रकार क़लम उठा सकता है। निम्नवर्ग या उच्चवर्गसे सम्बन्धित कथा-वस्तुपर न तो वह सचाईके साथ लिख सकता है और न उसे प्रयत्न करना ही चाहिए।

ऐसी धारणाओंकी तनिक परीक्षा करनी चाहिए कि वे कहाँतक सच हैं और क्या उनकी कोई सीमा है?

उदाहरणके लिए—यशपालजीने कहा कि हिन्दीके अमुक कविको बंगाल के कालपर लिखनेमें सफलता इसलिए नहीं प्राप्त हुई क्योंकि उन्होंने बंगाल का काल ख़ुद नहीं देखा था।

मतलब यह निकला कि अगर अमुक कवि उस समय बंगाल गये होते और उन्होंने वहाँके हज़ारों नंगों-भूखोंको देखा होता तो उनकी कविता अच्छी बन गयी होती, जैसी 'असफल' है वैसी ही 'सफल' तब हो जाती।

मान लीजिए कि अमुक कवि 'अकाल' पर कविता लिखनेसे पहले अकाल देखने गये होते! लेकिन उनके ख़िलाफ़ दूसरा आरोप भी अभी शेष है :

कि वे सम्पन्न हैं, अच्छा खाते-पहनते हैं : भूखे रहे होते और आर्थिक अभावका अनुभव करते तो अकाल-पीड़ितोंपर सफल कविता लिख पाते।

अब यह बात सिद्ध हुई कि अमुक कवि अकालपर अच्छी कविता लिख ही नहीं सकते थे। उस विषयपर तो ऐसा ही व्यक्ति लिख सकता है जो स्वयं अकालग्रस्त हुआ हो और जिसने उसकी समस्त पीड़ाको ख़ुद भोगा हो।

एक अन्य उदाहरण है : अमृतरायजीने एक बंगाली लेखकका ज़िक्र किया जो बंगलाके एक प्रतिष्ठित प्रगतिशील पत्रके सहकारी सम्पादक थे। इन लेखकको साहित्यिक ईमानदारीकी समस्या महत्त्वपूर्ण जान पड़ी और वे शहर छोड़कर गाँवमें चले गये ताकि वहाँ रह सकें और गाँवकी समस्याओं को समझकर वहाँका सही चित्रण कर सकें।

उपर्युक्त दो उदाहरणोंसे, दो बड़े विचित्र और अटपटे निष्कर्ष

निकलते हैं :

एक—कि यदि हिन्दीके अमुक कवि बंगालके दुर्भिक्ष-पीड़ितोंमें-से एक होते तो उनकी कविता जैसी है उससे कई गुना अधिक अच्छी हो गयी होती।

दो—कि बंगाली लेखक महाशय चूँकि गाँवमें रहकर वहाँकी समस्याओंसे परिचित हो गये हैं इसलिए वे जो कुछ भी गाँवके बारेमें लिखेंगे वह ज्यादा सजीव, श्रेष्ठ, सही और ईमानदारी-भरा होगा बनिस्बत उसके कि जो शहरमें रहते हुए भी इन विषयोंपर क़लम उठानेका साहस करता है।

अगर सचमुच ही ये दो निष्कर्ष निकलें—और ये दोनों विचार सही मान लिये जायें तो बड़ी भारी समस्या उठ खड़ी होगी। तब तो लेखन और मूल्यांकनके जो हमारे वर्तमान मानदण्ड हैं, उनमें आमूल परिवर्तन करनेकी आवश्यकता आ पड़ेगी और 'किस रचनाका मूल्य, किस कारणवश, कितना आंका जाये'—यह विवाद हमारे अधिकांश साहित्यिक विचार-विमर्शको आक्रान्त कर लेगा।

अतः आवश्यकता इस बातकी है कि समस्याके सही पहलूको पहचाना जाये और ऐसी बातपर ज़ोर न दिया जाये जो आगे चलकर भ्रामक सिद्ध हो।

७

तुकोंके दो तत्त्व

तुकोंके दो तत्त्व मुझे सदासे चमत्कृत करते रहे हैं। एक तो यह कि तुकका आग्रह कविता या गीतकी दिशाको प्रायः मोड़ देता है। 'अकेले कण्ठकी पुकार'की प्रथम पंक्ति है—'गीत जो मैंने रचे हैं····।' बहुत सम्भव है कि इस एक पंक्तिको लिखते समय कविताका जो भाव मेरे मनमें था, वह इस प्रकार हो कि मेरे रचे हुए गीत सितारोंके साथ मिल-जुलकर गाते हैं, सागरकी लहरोंपर अठखेलियाँ करते हैं या आकाशके विस्तारोंमें फैल जाते हैं····! परन्तु अन्य परिस्थितियोंमें इस विशेष कविताकी जो सहज गति होती,

वह तुक-आग्रहके कारण बदल गयी। जब 'रचे'का तुक मिलानेका प्रश्न आया, तो जो शब्द सबसे पहले मनमें आ सकता था वह 'बचे' था। अतः कविताकी प्रथम दो पंक्तियाँ इस प्रकार बनीं :

गीत जो मैंने रचे हैं,
वे सुनानेको बचे हैं।

फलतः मस्तिष्कमें स्थित मूल भाव तथा विचारधारा केवल एक तुकके कारण बदल गयी और इसलिए पूरी होनेपर कविताने एक ऐसी शक्ल अख्तियार की जो मेरी अपनी होते हुए भी पूर्वकल्पित चित्र या भावसे नितान्त भिन्न थी! सम्भव है कि इस कविताका जो नाम मैंने पहले सोचा था वह 'मेरे गीत' या 'गीतोंका वैभव' होता, परन्तु कविता पूरी होनेपर इसका नामकरण हुआ : 'अकेले कण्ठकी पुकार'।

तुकोंकी एक दूसरी विशेषता इस पहली बातके उल्लेख-द्वारा ही सामने आ जाती है। तुक जहाँ कविताके भावको एक विशेष दिशाकी ओर मुड़नेका संकेत करते हैं, वहीं वे कविके लिए 'अभिव्यक्ति'को अपेक्षाकृत सरल भी बना देते हैं और कभी-कभी सबल भी। 'दो बातें और एक तर्क' शीर्षक अपनी कवितासे उदाहरण दूँ :

'मानता हूँ : हर नया गाना सदा सस्वर नहीं होता'— इस प्रथम पंक्तिमें चूँकि 'सस्वर' शब्द ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, अतः इसका तुक मिलानेका प्रश्न जब आया तो सहज ही एक श्रेष्ठ और सशक्त शब्द 'नश्वर' मिल गया, जिसकी सहायताने मेरे लिए अभिव्यक्तिको सरल तो बनाया ही, साथ ही कविताको गौरव भी दिया और, इतना ही नहीं, इस कविताको आगे बढ़ने की दिशा भी दिखायी। वह इस तरह कि जब 'गानोंकी अनश्वरता' (नश्वरता नहीं) का संकेत करती हुई दो पंक्तियाँ बन गयीं :

मानता हूँ हर नया गाना सदा सस्वर नहीं होता,
अनश्वर भी नहीं होता।

तो वे इस प्रकार आगे बढ़ीं :—

अभी उमड़ा, घिरा, गूँजा, मिटा तत्काल,
जैसे बुलबुले····सपने····घरौंदे····इन्द्रजाल ।

यह बात विलकुल साफ़ है कि इन बादवाली दोनों पंक्तियोंका कोई भी सार्थक अर्थ न था यदि 'अनश्वर' शब्द पहले ही न आ चुकता, और यह भी स्पष्ट है कि 'अनश्वर' शब्द केवल इसीलिए प्रयुक्त हो सका क्योंकि 'सस्वर' का तुक मिलाना था ।

अस्तु, इस कथनका विरोध न होना चाहिए कि 'तुक' कविताकी भाव-धाराको एक विशेष दिशाकी ओर बढ़ाते, नियोजित तथा परिवर्तित करते हैं और अभिव्यक्तिको सरल तथा सशक्त भी बनाते हैं ।

२४ अगस्त ५२ : १९६२

८

कविताका यथार्थ

कविताएँ मनके भीतर जो रूप धारण करती हैं, वह वास्तविक रचनाके क्रममें बहुत-कुछ बदल जाता है । मस्तिष्कमें स्थित विचार काग़ज़-क़लमके सहारे अभिव्यक्त होते-होते बिलकुल दूसरा हो जाता है ।

सम्भवतः इसका कारण यह है कि मनमें उपजा हुआ भाव प्रायः अधूरा ही होता है, और शब्दों-वाक्योंमें गठकर सुनिश्चित आकार पा चुकनेके बाद ही सामान्यतः पूरा हो पाता है; फलतः, परिवर्तित रूपमें पूरा होता है । दूसरे यह भी कि आमतौरपर आवेगकी स्थितिमें जन्मे हुए भावसूत्र अस्पष्ट होते हैं । अपनेमें उनका कोई निश्चित आकार नहीं होता, वे वास्तवमें रागात्मक आवेगमात्र होते हैं । उन्हें अभिव्यक्ति देनेवाली भाषाकी विशेषता अथवा सीमा यह है कि भाषा हमारे आवेगको उसके मौलिक रूपमें नहीं व्यक्त करती, बल्कि या तो उससे कमको, अथवा उससे अधिकको अभिव्यक्ति देती है । यही कारण है कि अभिव्यक्ति 'नितान्त असमर्थ' और 'अत्यधिक समर्थ' नामक दो छोरोंके बीच उतरती-चढ़ती (फ़्लक्चुएट होती) रहती है । जैसी

अनुभूति है, बिलकुल वैसी ही अभिव्यक्ति होना कदाचित् सम्भव ही नहीं है : वह और वैसा तो केवल आवेग अथवा भाव होता है। व्यक्त होनेपर वह अपनेसे कम अथवा अपनेसे अधिक होकर अपने मूल रूपसे अवश्य ही भिन्न हो जायेगा। शायद यही तत्त्व अनुभूतिको कविता बनाता है और आदिम मनोवेगोंके अस्पष्ट, अपूर्ण अथवा एकान्तिक स्वरूपोंको परिष्कृत, पूर्ण अथवा सामाजिक रूप प्रदान करता है। कविताका यथार्थ ही वास्तवमें यह है कि एकान्त अनुभूतिको अभिव्यक्तिके सामाजिक धरातलपर प्रतिष्ठित कराये।

२९ अगस्त १९५२

९

अफ्रोदिते

अभी अफ्रोदिते पढ़कर समाप्त की है। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते जो मन दूषित हो गया था, वह शुद्ध हो गया है। समस्त वासनाएँ, जिन्होंने उभरकर उद्वेलित कर दिया था, शान्त हो गयी हैं। सफल लेखकोंकी एक विशेषता यह भी होती है कि वे पाठकोंके निम्नगामी मनोवेगोंको उठाकर उच्च धरातलपर रख देते हैं।

ज़िन्दगीकी कितनी सच्ची और साफ़ तसवीर उतारी है पियरे लुईने। प्राचीन मिस्र, वासना, वेश्यावृत्ति, विलास, अन्धविश्वास, नग्नता, ऐन्द्रिक सुख, मुक्त आमोद-प्रमोद, प्रेम-प्रसंग—सभीका मुक्त तथा विशद चित्रण। बर्बर और प्रेमातुर मनो-भावनाओंके भीतर गहरी पैठ। क्राइसिस और देमेत्रियासकी प्रेमकथा। आदिम प्रेम-वासना, रतिक्रीड़ाओंका विस्तृत दिग्दर्शन। रानीसे लेकर छोटीसे-छोटी स्त्री, और प्रत्येकको रुचिका एकमात्र विषय : प्रेम, रति, विलास, आमोद। स्थान : ऐलेक्ज़ैण्ड्रिया। मनमोहक भाषा, वर्णनात्मक शैली। तत्कालीन जीवनका समग्र, संक्षिप्त और विस्तृत चित्र। उपन्यास पुरअसर है। यौन-उत्तेजक उपन्यासोंकी परम्परामें होते हुए भी बहुत कुछ भिन्न है पियरे लुईकी अफ्रोदिते : इस दृष्टिसे कि वह विकारों

से दंशित पाठकको निर्मल और स्वच्छ भी बनाती है, बशर्ते कि खुद पाठक विकारमें रस न लेने लगे।

१८ सितम्बर १९५२

१०

एक विचार-गोष्ठी

सिविल लाइन्सके मलानी काफ़ेमें आज सुबह परिमलकी विचार-गोष्ठी हुई। विषय था : मध्य-वर्गका विघटन और कथा-साहित्यपर उसका प्रभाव। लक्ष्मीकान्त वर्माने प्रवर्त्तन किया। उन्होंने पूरे तौरपर समस्याको लिया; बीसवीं शतीकी पृष्ठभूमिमें विघटनके रूपों, स्थितियों आदिका विश्लेषण तथा वर्गीकरण किया।

प्रोफ़ेसर एस० सी० देवने 'अंग्रेज़ी साहित्यमें मध्य-वर्ग'पर अंग्रेज़ीमें बात-चीत शुरू की और प्रश्नका मूल सातवें हेनरीके समयसे बताया। पहले मध्य-वर्ग व्यापारी वर्ग था, जिसने संसारके नौ-मार्गों (sea routes) पर अधिकार किया। मध्य-वर्गकी पहली विजय उन्होंने उस समय बतायी जब विलियम ऑव ऑरेन्जको राज्य मिला। यह रक्तहीन राज्यक्रान्ति थी। इसके बाद मध्य-वर्गकी और भी जीतें हुईं, किन्तु 'हाउस ऑव लॉर्ड्स'का नियन्त्रण बना ही रहा। फिर भी लेखक, कलाकार, राजनीतिज्ञ आदि मध्य-वर्गसे ही आते रहे।

मध्य-वर्गकी चेतना अथवा मनोविज्ञानके पाँच रूप अंग्रेज़ी-साहित्यमें मिलते हैं। इन्हींमें वे हैं, जो मध्य-वर्गके हैं परन्तु उससे पीड़ित हैं; वे जो मध्य-वर्गके हैं परन्तु उसीमें सुखी हैं; वे जो मध्य-वर्गसे ऊबे हैं, परन्तु आगेका मार्ग नहीं देख पाते।

प्रोफ़ेसर देवका भाषण अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण, तिथि, लेखकों तथा पुस्तकोंके नामोंसे भरा-पूरा रहा। वर्गीकरण स्पष्ट और सुबोध था, विश्लेषण सुन्दर।

श्री गोपाल हालदारने मौरूसी बन्दोबस्त (Permanent Settle-

ment), पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति, बूर्जुआ संस्कृतिकी शिक्षा आदिको मध्य-वर्गके निर्माणमें सहायक वताया। सरसरी तौरपर उन्होंने बंगालीके साहित्य-कारोंका वर्गीकरण किया और कहा कि गाँधीवादको लेकर बंगलामें बहुत कम साहित्य लिखा गया है—बस, श्री भादुड़ीने ही इस विषयपर एक-दो उपन्यास लिखे हैं।

श्री इलाचन्द्र जोशीने मध्य-वर्गके उच्च आदर्शों तथा उसकी महत्त्वा-कांक्षाओंके साथ उसकी विवशताओं और विपन्नताकी चर्चा की। ये अन्त-र्विरोध साहित्यमें प्रतिफलित हुए और उन्होंने मध्य-वर्गको तोड़ा और विकृ-तियाँ भी उत्पन्न कीं। साहित्यकारोंने—स्वयं जोशीजीने—उन विकृतियों का विश्लेषण किया और इसपर उन्हें मार्क्सवादियोंने अश्लील और मनो-विश्लेषणवादी कहा, परन्तु ऐसे साहित्यकारोंका और विशेषतः जोशीजी का उद्देश्य एक अधिक व्यापक 'दैवी' जीवनकी खोजमें रत, दीन-हीन, विकृत मध्यवर्गका अंकन-मात्र था।

इसके पश्चात् विवाद प्रारम्भ हुआ। सबसे पहले श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त बोले। उन्होंने कहा कि मार्क्सवाद एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है। वह जीवन के 'दैवी' मूल्योंको वहाँतक मानता है, जहाँतक जीवनको समृद्ध तथा सुखी बनानेका प्रश्न है।

डॉ० रामविलास शर्माने हलके-फुलके ढंगसे बात शुरू की। उनके अनु-सार हमारे कुछ साहित्यकार भारतेन्दु-युग तथा प्रेमचन्द्रकी परम्पराओंसे विलग हो गये और जनवादी परम्परासे दूर होकर एज़रा पाउण्ड और इलि-यटके साथ मिले, जो स्वयं अंग्रेज़ीके डिकेडेण्ट कवि हैं और जिन्होंने स्वयं अंग्रेज़ी-साहित्यकी परम्पराओंको छोड़ दिया है। इसी प्रकार हिन्दीके कुछ साहित्यकार हिन्दीकी परम्पराको छोड़ बैठे।

मध्य-वर्गका विश्लेषण करते हुए डॉ०रामविलासने समाजको कई भागों में बँटा बताया। एक तो अंग्रेज़ी तथा अमेरिकी पूँजी-वर्ग, दूसरा हिन्दुस्तानी पूँजी-वर्ग और तीसरा इनसे सम्बद्ध मज़दूर, जो धीरे-धीरे एक वर्गके अन्त-

गंत आता जा रहा है। दूसरी ओर मध्य-वर्ग आता है, जिसमें हम सब लोग हैं। भारतेन्दु-युगमें इस वर्गका अधिक सम्बन्ध किसानोंके साथ था, अब पूँजी-पतियोंके साथ हो चला है। इस मध्य-वर्गमें भी कई स्तर और प्रकार हैं। एक हिन्दुस्तानी मध्य-वर्ग, जो औपनिवेशिक मध्य-वर्ग होनेके कारण अंग्रेज़ी मध्य-वर्गसे भिन्न है। इसमें भी विभिन्न प्रान्तोंके मध्यवर्ग और प्रान्तों में भी विभिन्न क्षेत्रों—जैसे उत्तर प्रदेशमें भोजपुरी, अवधी, बुन्देलखण्डी आदि भाषा क्षेत्रों—के मध्यवर्ग और इनमें भी कायस्थ, ब्राह्मण आदि विभिन्न जातियोंसे सम्बद्ध मध्यवर्ग।

जनवादी परम्परामें डॉ० रामविलासने नयी पीढ़ीके लगभग पच्चानवे प्रतिशत साहित्यकारोंका योग बताया, भले ही उनके साहित्यका प्रकार (quality) अभी बहुत अच्छा न हो और उनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओंमें न छप पाती हों। दूसरी ओर मुट्ठी-भर प्रतिक्रियावादी साहित्यकार हैं जिनका भविष्य कुछ भी नहीं है।

श्री विजयदेव नारायण साहीने एक प्रश्न प्रस्तुत किया कि भले ही मार्क्सने कम्यूनिस्ट मैनिफ़ेस्टो (१८४८) में लिखा कि मध्यवर्ग विघटित हो रहा है और समाजवादका आतंक (spectre) समस्त योरोपपर छा रहा है, फिर भी तत्कालीन योरोपीय साहित्यमें—टेनीसन और ब्राउनिंग आदिमें—कहीं भी उस विघटन (disintegration) और आतंकका चित्र नहीं मिलता। हार्डी और ऑस्कर वाइल्ड आदि बादके कुछ साहित्यकार असन्तुष्ट और निराशावादी अवश्य लगते हैं, परन्तु क्या यह एक शुद्ध साहित्यिक परम्परा नहीं थी। क्या हार्डीके सौ-डेढ़सौ वर्ष पहलेके लेखकोंमें भी असन्तोष तथा निराशाके चित्र नहीं मिलते? फलतः श्री साहीके अनुसार उस आतंकका भी अंकन उन्नीसवीं शतीके योरोपीय साहित्यमें नहीं हुआ और इससे सिद्ध होता है कि कोई युग किस समय साहित्यको किस रूपमें प्रभावित करता है, यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता।

श्री धर्मवीर भारतीने डॉ० रामविलाससे प्रश्न किया कि क्या अकसर

ऐसा नहीं हुआ है कि साहित्यकार विवश होकर एक मुट्ठीमें बँध गये हैं ? क्या जर्मनी और इटलीके फ़ासिस्टवादने ऐसा नहीं किया और क्या एक मुट्ठीमें बँधकर, विना श्रम किये दूसरेके मुँहसे बोलना साहित्यकारके लिए उचित है ? क्या मार्क्सवाद ही जीवनका अकेला दर्शन है, वही जनवाद है, और उससे मतभेद रखकर कोई सत्यकी ओर बढ़ना चाहे तो क्या वह प्रतिक्रिया है या ग़लत है ?

समय अधिक हो चुका था। डॉ० रामविलासने थोड़े शब्दोंमें अपना मत प्रकट किया कि, हाँ, जनतासे—भारतेन्दु-युग और प्रेमचन्दकी परम्परा से—मुँह मोड़कर 'अपने' सत्यका उद्घाटन करना, अपनेको ही पूर्ण और महत्त्वपूर्ण मानना—जनताको नहीं—अवश्य अवांछनीय है।

अन्तमें प्रोफ़ेसर देवने पूरे वाद-विवादका विवरण देते हुए कहा कि छापेखाने (printing press) के आविष्कारके साथ जो मध्यस्थ (middleman publisher) सम्मुख आया, उसने साहित्य और साहित्यकार, दोनोंको बड़ी हानि पहुँचायी। उसने पढ़नेवाली जनता और लेखकोंका निर्माण किया और साहित्यकारकी स्वतन्त्रतापर गहरा आघात किया। प्रोफ़ेसर देवके अनुसार स्तालिनका साम्यवाद लेखककी दृष्टिसे साम्राज्यवाद की कोटिमें आयेगा। स्तालिनने लेखककी स्वतन्त्रता छीनकर पंक्तिबद्धता (regimentation) की प्रवृत्तिको प्रश्रय दिया। यह मार्क्सकी तथा उससे भी बड़े कम्यूनिस्ट लेनिनकी परम्पराके विरुद्ध था।

गोष्ठी लगभग एक बजे समाप्त हुई। हम दो-तीन मित्र कॉफ़ी हाउस में जमे। जो बोले थे उनकी आलोचना हुई, जो नहीं बोल पाये वे अवसर मिलनेपर क्या बोल पाते इसका अनुमान लगाया। लम्बी-चौड़ी बहसोंके बाद चार बजेके लगभग हम वापस लौटे।

१९ अक्टूबर १९५२

११

युद्धोत्तरकालीन हिन्दी कविता

परिमल और सहपरिमलकी संयुक्त गोष्ठी हुई। युद्धोत्तरकालीन हिन्दी कवितापर मुझे निबन्ध पढ़ना था। मैंने जो निबन्ध लिखा उसमें सन् १९४२ से लेकर अबतककी कविताको तीन मोटे हिस्सोंमें बाँटा। बयालीससे पैंतालीस तक, पैंतालीससे सैंतालीस तक और सैंतालीसके बादकी कविता।

इस प्रकार बयालीससे बावन तककी, दस वर्षोंकी कवितापर मुझे युद्धका प्रभाव उतना अधिक नहीं दिखा, जितना स्वयं अपने देशमें होनेवाली बहुतेरी घटनाओंका। कण्ट्रोल, आर्थिक समस्या, बेकारी, असन्तोष, आतंक, अन्न-वस्त्रके संकट आदि बहुतेरी बातोंका असर हमारी कवितापर खोजा जा सकता है। स्वातन्त्र्य संग्रामकी परिणति और देशकी अपनी सरकारका निर्माण, साम्प्रदायिक दंगे, और महात्मा गाँधीने हिन्दीकी कविताको बहुत अधिक प्रभावित किया। तीसरी स्थिति वह है जब स्वतन्त्रता-प्राप्तिके प्रारम्भिक वर्षोंमें हमने पाया कि हमारी आशाएँ फलीभूत नहीं हो पा रही हैं, आर्थिक संकट और अभाव वैसे ही हैं, बल्कि पहलेसे कुछ और बढ़ गये हैं।

ऐसे, घटनाओंसे भरे, हमारे देशके पिछले दस वर्षोंमें-से होकर हिन्दी की युद्धोत्तरकालीन कविता विकसित हुई है। इस कविताके कई लक्षण मैंने सुझाये और प्रमुख कवियों और काव्य-प्रवृत्तियोंका उल्लेख किया।

निबन्ध समाप्त होनेपर विचार-विमर्श प्रारम्भ हुआ। सबसे पहले नामवर बोले। उन्होंने कहा कि प्रगतिवाद और प्रयोगवादके खानोंमें साहित्य को बाँट देना वस्तुतः अनुचित है। ठीक तरीक़ा यह होगा कि किसी एक विषय—जैसे प्रेम, प्रकृति—की रचनाओंको लेकर हम देखें कि उनके चित्रणमें बीस या पचीस वर्षोंमें क्या अन्तर आ पड़ा है। जैसे निरालाकी 'जूहीकी कली' और 'बाह्मनका लड़का'के प्रेममें ज़मीन-आसमानका अन्तर है।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेयने वहुत-सी बातें बतायीं। कालीदासकी परम्परा, मन्त्र-तन्त्र यानी व्यक्तित्व और समाजका एकीकरण, ईश्वर, अनीश्वर आदि।

व्रजेश्वर वर्माजीने कहा कि काव्यमें अनुभूति तथा भावना प्रधान हैं। इनके अभावके कारण ही आधुनिक काव्य उन्हें प्रिय नहीं, वे वास्तविक काव्यकी खोजके लिए छायावादियोंके पास ही जाते हैं।

उदयनारायणजीने संस्कृति-विषयक बातें कहीं। जनसम्पर्क और जनभाषा के प्रयोगकी आवश्यकतापर जोर दिया। हमारे लेखक प्रकृत रूपसे अपनेको अभिव्यक्त नहीं कर पाते। क्योंकि उनकी जड़ ग्रामीण बोलियोंमें नहीं है।

साही वी०डी०एन०ने बताया कि हमारे यहाँ युद्धका वैसा अनैतिक प्रभाव नहीं पड़ा जैसा योरोपपर। अतः पुनःस्थापनकी समस्या भारतमें नहीं उठी। इस सम्बन्धमें योरोप और भारतवर्ष—विशेषतः हिन्दीभाषी प्रदेश—की मनोवृत्तियोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। यही कारण है कि हिन्दीके प्रयोगवादी आन्दोलनपर बीसवीं शतीके अंग्रेजी कवियोंका नहीं, वरन् सत्रहवीं सदीके कवियोंका प्रभाव पड़ा था। फलस्वरूप साहीको प्रयोगवादी आन्दोलनसे भी आशा दिखायी दी।

भारतीने तीन पीढ़ियोंका उल्लेख किया। पन्त, निराला, फिर बच्चन, सुमन, नरेन्द्र—इनके वाद ही अज्ञेय और तार-सप्तकके कवि और अन्ततः दूसरा सप्तकके कवि।

तार-सप्तकके कवियोंका मस्तिष्क 'संकट' कालमें बना, इसलिए उनमें अस्पष्टता और दिशाभ्रम अधिक है; दूसरा सप्तकके कवियोंमें सादगी, सरलता और स्पष्टता। उनपर रूमानियत बच्चन, नरेन्द्रके प्रभावसे आयी।

१९४२ के आन्दोलनमें प्रगतिवादी लेखकोंने साथ नहीं दिया, द्वितीय महायुद्धको जनयुद्ध माना। इन सभी बातोंके कारण उनके साहित्यमें आन्तरिक असंगतियाँ उत्पन्न हो गयीं। डॉ० रामविलासने अन्ततः कविता लिखना छोड़ दिया—यहाँतक कि अपनी आलोचना-द्वारा भी प्रगतिशील आन्दोलनको संकुचित बनाया।

बच्चनकी कविता पूर्णतया व्यक्तिवादी है—व्यक्तिवादी अपील उसमें है—और व्यक्तिवादकी सीमाएँ भी। परन्तु जहाँ वह कविता केवल व्यक्तिवादका फ़ॉर्म-भर रह जाती है, वहाँ अकसर 'काग़ज़का फूल' जान पड़ती है—वह 'ताज़ा फूल' नहीं जो पूर्वकालमें बच्चनकी कविताका शृंगार था।

नरेन्द्रने जेलमें इस बातको माननेसे इनकार किया था कि द्वितीय महायुद्ध 'जनयुद्ध' है, परन्तु उनके साथियोंने उन्हें विवश कर दिया कि वे इसे स्वीकार करें। तबसे नरेन्द्रकी कवितामें-से वह 'सौन्दर्य' लुप्त हो गया जो किसी समय नरेन्द्रकी अपनी चीज़ था। आदि।

धीरेन्द्रजीने बहसको समाप्त किया। आलोचनामें निर्धारण और एक प्रकारके नियन्त्रणकी आवश्यकता बतायी। मेरे निबन्धके लिए बोले कि अच्छा और वैज्ञानिक था गो कि इससे भी गहरे पैंठा जा सकता था।

गोष्ठी नौ बजे रातको खत्म हुई।

३० अक्टूबर १९५२

१२

कविताका सङ्गीत

फ़िल्म देखकर लौटनेपर हर आदमी दोमें-से एक या फिर दोनों ही काम करता है। वह या तो ग़मग़ीन हो जाता है या देखी हुई फ़िल्मकी चर्चा करता है।

हम लोग अंग्रेज़ी तसवीर देखकर लौटे तो कुछ देर चुपचाप चलते रहे। यह नहीं कि हम बहुत शालीन स्वभाववाले थे और अंग्रेज़ी अदब-क़ायदेमें विश्वास करते थे बल्कि यह कि हममें-से अधिकांश तसवीरको समझ ही न पाये थे। बस इतना समझे थे कि एक नायक और नायिका थे और वे मन-ही-मन एक-दूसरेसे या तो बहुत प्रेम करते थे या बहुत घृणा करते थे। इसके आगेकी कथा हर एकने अलग ढंगसे समझी थी या फिर नहीं समझी थी। लेकिन शौक़ीन हम सबके-सब थे अंग्रेज़ी तसवीरोंके।

बहरहाल बात शुरू होनी ही थी सो जब चली तो अंग्रेज़ी संगीतपर आ पड़ी। मैं चुप था। मुझपर तसवीरने तनिक भी असर न डाला था। उधर सरगर्म बहस छिड़ी थी। मुझे भी मैदानमें खींचनेकी कोशिश की गयी तो मैंने गम्भीर होकर कहा, "देखो जी, इस वक़्त तो न छेड़ो। मेरे मनमें साज़ बज रहे हैं। पियानो, गिटार और मैण्डोलिनका संगीत गूँज रहा है; तबलेके ठेके, सितारकी गतें और तुम्हारे तान-पलटे सब भूल गये।"

इसपर सभी हँसे और बहसें नायिकाके चश्मे और पोशाकोंपर जा केन्द्रित हुईं।

हँसीकी बात हँसकर खत्म हो चुकी लेकिन घर आकर सोचता हूँ तो मिला-जुला बहुत कुछ मनमें आता है। जैसे, यह संगीत हुआ—तो मैं समझता हूँ कि 'कवितासे सम्बन्धित संगीत' और कवितासे निरपेक्ष 'स्वतन्त्र संगीत' दो बिलकुल अलग बातें हैं। कवितासे सम्बद्ध हो जानेपर संगीत मूलतः "व्यञ्जन ध्वनियों'का संगीत हो जाता है अन्यथा वह शुद्ध 'स्वर ध्वनियों' का ही बना रह सकता है। इस सबके कारण हिन्दीके अधिकांश छायावादी गीतोंका संगीत मुझे कुछ विदेशी-जैसा जान पड़ता है, मेरा मन उसमें नहीं रमता जैसे वह कुछ पुराना-सा पड़ गया है। नये संगीतकी खोजमें मेरे होंठोंपर जो लय उभरती है, उसके नमूने बहुत-से मिल सकते हैं। लयमान या प्रवहमान संगीतके स्थानपर मुझे काव्यके लिए अधिक उपयोगी वह संगीत लगता है जिसमें प्रत्येक शब्द ही नहीं, प्रत्येक अक्षरकी, अपनी व्यक्तिगत स्थिति तथा उच्चारण होते हैं। संगीतका यह तत्त्व काव्य-तत्त्वके लिए सहायक होता है क्योंकि जब प्रत्येक अक्षरकी स्थिति अलग होगी तो संगीत की सुविधाके लिए कवितामें हलके, निरर्थक और मात्रा-पूर्तिके लिए चलताऊ शब्द आसानीसे नहीं भरे जा सकेंगे। अपनी बातको स्पष्ट करनेके लिए उदाहरण दूँ—'सोचता हूँ गीत लिखनेसे कहीं अच्छा....' एक कविता पंक्ति है। इसे विभाजित करना चाहें तो प्रत्येक अक्षर अलग-अलग बँट जायेगा—सो. च. ता. हूँ. गी. त. लि. खने. से. क. हीं. अच्छा. आदि। यहाँ प्रवाह

तरल, वेगवान या 'स्लिपरी' नहीं है बल्कि झटके खाता हुआ आगे बढ़ता है। संगीतकी दृष्टिसे भले ही यह तत्त्व हानिकर हो, काव्यकी दृष्टिसे संगत और उचित है।

कुछ-कुछ ऐसी ही बात अंग्रेज़ी छन्दशास्त्रका विश्लेषण करनेपर जान पड़ती है, जहाँ पंक्तियोंको दो-दो तीन-तीन शब्दांशों (syllables)की यतियोंमें विभाजित कर दिया जाता है और फलतः संगीत उठती-गिरती लहरों-जैसा प्रभाव देता है। अधिकांश अंग्रेज़ी कविताका संगीत इसी प्रकार अवरोह-आरोहमय शब्दांशों (syllables) को लेकर निर्मित हुआ है। इससे लाभ यह होता है कि प्रत्येक व्यंजनकी स्थिति अलग होकर सम्मुख आती है, एक दूसरेसे लिपटे हुए शब्द बहते नहीं चले जाते। अतः शब्द अपनी वास्तविक तथा सुस्पष्ट अर्थमत्ताको लेकर प्रकट होते हैं और काव्यार्थको पूर्ण रूपसे व्यंजित करते हैं।

१७ अक्टूबर १९५३

१३

उपमान

सिद्धिनाथजीने उपमानोंकी चर्चा करते हुए कहा कि उपमान पुराने ही रहें और उनमें उद्भावनाएँ नयी की जायें तो अच्छा रहे क्योंकि उपमान कभी घिसते नहीं।

मेरा अनुमान है कि जिन कवियोंमें प्रतिभा, अनुभूति या मौलिकताकी कमी रहती है, वे ही प्रचलित उपमानोंका प्रयोग अपनी कवितामें सर्वाधिक करते हैं और इस प्रकार तात्कालिक 'वाहवाही' पाना चाहते हैं। वाहवाही मिलनेका कारण यह है कि रूढ़ उपमानोंमें कुछ ऐसा जरूर रहता है कि पाठक-वर्ग उसकी प्रतीक्षा करता रहता है कि कवितामें वे आयें। ये रूढ़ उपमान कवितामें प्रयुक्त होकर मानो पाठककी आशाओंको पूरा करते हैं। कविताके अन्तर्गत ये उपमान एक ऐसी वस्तु होते हैं, जो पाठकको पहलेसे

ज्ञात रहती हैं और जिसकी एक प्रकारसे, पाठक प्रतीक्षा करता रहता है। जब वह अपने जाने-बूझे उपमानको कवितामें प्रयुक्त हुआ पाता है तो उसे सहज उल्लास होता है और इस उल्लासको उक्त पाठकका काव्यबोध या काव्यानन्द कहा जाता है। यही बात तुकोंके बारेमें भी सच है। जब पाठक एक पंक्तिके अन्तमें 'रचे हैं' पढ़ता है तो अज्ञात रूपमें उसे आशा बँधने लगती है कि अगली पंक्तिमें 'बचे हैं' का प्रयोग किया जायेगा। जब उसकी ऐसी आशा सही उतरती है तो उसे आनन्द होता है।

प्रचलित उपमानोंका प्रयोग आमतौरपर एक ऐसी क्रिया है जिसे प्रायः द्वितीय या तृतीय श्रेणीके कवि अमलमें लाते हैं। प्रथम श्रेणीके, अर्थात् प्रतिभा, अनुभूति अथवा मौलिकतासे सम्पन्न कवि यदि इन उपमानोंका प्रयोग करते भी हैं तो किसी ऐसी विशेषताके साथ संयुक्त करके कि इन उपमानोंके नये एवं विलक्षण अर्थ खुल जाते हैं।

नये उपमानोंकी आवश्यकताका अनुभव बहुत कुछ आधुनिक मनोविज्ञानके विकासके साथ भी हुआ। मनपर-से अनेक आवरण हटाये गये और इस क्रियासे प्रेरित होकर मानव-मनकी—वस्तुओं तथा परिस्थितियोंके प्रति होनेवाली—प्रतिक्रियाओंके स्वरूपमें बड़ा अन्तर आ गया। किसीको किसीके अंग-प्रत्यंग किसी विशेष ढंगके जान पड़ते हैं तो क्या बाधा है—इस नये ढंगसे अंगोंका वर्णन उसे करने दो।

नये उपमानोंकी ओर समकालीन कवियोंका झुकाव इसलिए और भी है क्योंकि उपमानोंके क्षेत्रमें क्रान्ति कर देना या नवीनता ला देना अपेक्षाकृत सरल भी है। भ्रमवश कुछ कविगण इसीको समूची काव्यधारामें क्रान्ति ला देना समझ बैठते हैं। इसलिए सिद्धिनाथजीका यह आरोप बहुत कुछ सात्त्विक है कि नयी कविताके कारण उपमानोंमें नवीनता भले आयी हो पर काव्यकी भावसम्पत्ति अधिक नवीन और सम्पन्न नहीं हो सकी है।

२१ नवम्बर १९५४

१४

कूड़े-सा तजकर ?

१

किसी पुस्तकालयमें कोई उत्सव था। मित्र घसीट ले गये। वहाँ सनेही जी दिखायी दिये। देखते ही मन भर आया। कैसे हो गये हैं वे—वृद्ध स्वास्थ्यहीन, दयनीय ! वेदना मानो उनकी मुख-मुद्रासे फूटी पड़ती थी !

मेरे दोस्त आपसमें उनकी हँसी उड़ा रहे थे। और पोपले मुँहवाले सनेहीजी चुपचाप बैठे थे।

कैसा तेजस्वी स्वरूप था उनका। कितनी बुलन्द और कड़कती हुई आवाज़। कविता पढ़ते थे तो हर दूसरी आवाज़ फीकी पड़ जाती थी।

और अब वही सनेहीजी, दुर्बल हो गये शरीरपर ढीला-ढाला सिकुड़ा कोट पहने, बिना दाँतोंके मुँहमें पान चबाते हुए, चुप बैठे थे।

एक महाशय भाषण देते-देते सनेहीजीकी सेवाओंका हवाला देने लगे थे। शायद अपने हिसाब वे सनेहीजीपर कृपा कर रहे थे। शायद सनेहीजी की आँखोंमें कुछ चमक आ गयी हो पर मेरा मन और भी दुखी हो आया। क्योंकि इर्द-गिर्द बैठे लोग अनादरके भावसे मुसकरा रहे थे, चुपके-चुपके टिप्पणियाँ कर रहे थे। क्योंकि सनेहीजीकी उपस्थिति उस सभामें किसी भी दूसरे व्यक्तिकी उपस्थितिके ही समान थी। उनकी शक्ति, उनकी वाणी और उनके व्यक्तित्वका साक्षी केवल अतीत था, वह अतीत जो कभी-ही-कभी इतिहास बन पाता है।

उस मीटिंगके ढोंगसे मैं खिन्न हो उठा। दोस्त रोकते रहे, लेकिन और अधिक वहाँ बैठनेको मेरा मन न हुआ। पंक्तियाँ याद आती रहीं : कूड़े-सा तजकर मुझको तटके पास—मन्थर गतिसे बढ़ जायेगा इतिहास।

कूड़े-सा तजकर ?

तो क्या हर काम : पूरा हो जानेके बाद : सिर्फ़ कूड़े-सा रह जाता है ? नहीं, नहीं, नहीं ! जो हमें 'प्राण' देकर गये हैं—वे हमसे कहीं अधिक

जीवित हैं। वे जीवित रहेंगे। आज हम भले ही उन्हें विगत सोच लें, पर वह दिन भी आयेगा जब हम जानेंगे कि जिसका दिया हुआ 'जीवन्' हम भोग रहे हैं, वह तो 'वे' ही थे।

६ मार्च १९५५

१५

गीतका विस्तार

गीतकी सीमा और परिभाषाको तनिक विस्तृत करना होगा। अर्थात् अभीतक हम हिन्दीके पाठक जिसे गीत समझते रहे हैं उससे कुछ भिन्नको भी गीत मानना होगा।

सम्प्रति स्थिति यह है कि गेय कविताओंके अवधी और ब्रजभाषावाले प्राचीन रूपको हम 'पद' कहते हैं और छायावादी और तत्पश्चात्के नवीन रूपको 'गीत'। कुछ वर्षों पहले तककी शेष मुक्तक कविताको हम दो ढंग से पहचानते रहे हैं: या तो कवित्त, सवैया, दोहा आदि 'छन्दों'के नाम-द्वारा अथवा रीतिकालीन, द्विवेदीयुगीन आदि 'काल-विभाजनों'के द्वारा।

जहाँतक 'गीत'का प्रश्न है, उपर्युक्त कथनके अनुसार, एक बात सबके सम्मुख स्पष्ट है कि 'गेय कविता'ही गीत है। शास्त्रीय दृष्टि डालनेपर ज्ञात होता है कि 'गीत'की अन्य भी कई आवश्यकताएँ हैं। उदाहरणार्थ संक्षिप्ति, वैयक्तिकता, प्रभावकी एकसूत्रता, अन्विति आदि-आदि।

गेयताके अतिरिक्त इन बहुत-सी विशेषताओंमें केवल एक ही ऐसी है जो 'गीत'की खास आवश्यकता हो सकती है। वह है: अन्विति।

अर्थात् भावकी एक विशेष प्रकारकी गठन्। अन्वितिके अन्तर्गत ही संक्षिप्ति, वैयक्तिकता आदि गीतकी अन्य विशेषताएँ भी आ जाती हैं।

यों: गीतकी तात्त्विक विशेषता 'अन्विति' हुई और तात्त्विक एवं आकारगत आवश्यकता हुई 'गेय होना'।

दुर्भाग्यवश हिन्दी गीतमें पिछले दिनों उपर्युक्त दोनों ही विशेषताओंसे

विमुख होनेके लक्षण बढ़े हैं। हिन्दीके गीत धीरे-धीरे एकमात्र आकारगत स्वरूपको अपनाने लगे हैं। और अब चार-चार पंक्तियोंके पदों तथा एक ही तुकपर टूटनेवाली टेक पंक्तियोंवाली छोटी कविताको गीत माना जाता है। यह गीतनामधारी कविता प्रायः सम-मात्रिक छन्दोंमें लिखी जाती है।

यहाँ अपने प्रस्तावको दोहरानेकी आवश्यकता है कि गीतके क्षेत्रको तनिक विस्तृत करना होगा। अर्थात्—

विषम-मात्रिक और मुक्त वृत्तोंवाली एक अन्य प्रकारकी कविताको भी गीत मानना होगा। तभी गीतके क्षेत्रमें आया हुआ गत्यवरोध भी दूर हो सकेगा। विषम-मात्रिक छन्दोंमें गीत अधिक लिखे जायें तो समयपर प्रवाहित होनेवाले अभी तकके हिन्दी गीतोंके संगीतमें कुछ परिवर्तन आ पायेगा। अभी तक हिन्दी गीतोंमें विषम-मात्रिक छन्दोंका प्रयोग सामान्यतः इसी सीमित अर्थमें हुआ है कि चार-छह अथवा आठ पंक्तियोंके पदका प्रत्येक चरण जितनी मात्राका होता है, टेकवाली पंक्तिमें उससे कुछ कम या अधिक मात्राएँ रहती हैं। प्रायः टेक-पंक्तिकी मात्राएँ अन्तराकी आधी या दुगनी होती हैं। यदि हम चाहेंगे कि हिन्दी गीतमें अधिकाधिक व्यञ्जना और गठन आये तो हमें वास्तवमें छन्दोंके और भी अधिक विस्तार खोजने होंगे।

गीतवादी कवियोंको ही मुख्यतः यह दायित्व वहन करना है कि प्रति-दिन रूढ़ होते जाते हिन्दी गीतको नयी विषय-वस्तु और सज्जा दें। ऐसे प्रयत्न हिन्दीमें नहीं हो रहे—यह कहना तो असंगत होगा। पर इतनी बात सच है कि जिनका यह दायित्व है—वे हिन्दीके वयस्क अथवा तरुण गीतकार इस दिशासे या तो उदासीन हैं या विमुख। जबतक वे स्वयं सचेष्ट न होंगे गीतमें नवोन्मेष आना कठिन है।

१३ अगस्त १९५५

१६

यथार्थका अंकन

यथार्थ जीवनको अंकित करनेके लिए फ़ोटोको सबसे अधिक प्रामाणिक माध्यम माना जाता है। लेकिन असलमें, फ़ोटो अकसर उस वस्तुसे भिन्न होती है, जिसकी कि वह फ़ोटो है। फ़ोटो अकसर उस वस्तुसे कहीं अधिक सुन्दर भी होती है, जिसकी कि वह फ़ोटो है। 'वस्तु' और 'वस्तुकी फ़ोटो'– ये दो बिलकुल अलग चीज़ें हैं। वस्तुके यथार्थको फ़ोटो कल्पनाके स्तरपर ले जाती है, गो कि समझा यह जाता है कि फ़ोटो वस्तुको यथातथ्य रूपमें पेश करती है।

'वस्तु' तथा 'वस्तुकी फ़ोटो'में जो अन्तर रहता है, उसे 'फ़ोटोग्राफ़ी-की कला' कहकर स्पष्ट किया जा सकता है। बताया जाता है कि छाया, प्रकाश, कोण आदि योजनाओंकी सहायता लेकर जो फ़ोटो खींची जायेगी वह बहुत सम्भव है कि 'वस्तु'से भिन्न जान पड़े। अतः वस्तु तथा वस्तुकी फ़ोटोमें अन्तर हो जानेका कारण है—फ़ोटोग्राफ़ीकी कला।

प्रश्न तो यह है कि वस्तुका यथार्थ स्वरूप है क्या? फ़ोटोमें उतरी हुई छविको छाया-प्रकाश आदि योजनाओंसे अलग करके देख पाना मुश्किल है कि हम उन योजनाओंके लिए कुछ 'डिस्काउण्ट' काटकर, फ़ोटोके 'इल्यूज़न'को मिटाकर असलियत जान जायें। तो फिर 'वस्तुओं'के किस यथार्थको यथार्थ माना जाये: सम्मुख प्रस्तुत ठोस वस्तु, फ़ोटोमें खिची वस्तु, और चित्र (पेंटिंग) में अंकित वस्तु: इन तीनोंमें-से किसे हम वास्तविक समझते हैं? या यह कि इन तीनोंसे भिन्न, कोई चौथा, पाँचवाँ या छठा मानसिक स्वरूप हमारी चेतनामें स्थित रहता है, जिसके आधारपर हम वस्तुके यथार्थ, विकृत, काल्प-निक, अलंकृत आदि रूपोंका विश्लेषण और विभाजन करते हैं?

कैमरा नितान्त निर्वैयक्तिक होता है, अतः तर्कसंगत यह है कि यथार्थको जिस रूपमें कैमरा पकड़ता है, उसीको प्रामाणिक मानना चाहिए। हमारी

दृष्टि वैयक्तिक (और व्यक्ति-विशेषकी भी) दृष्टि होती है, इसलिए यथार्थको जैसा हम समझते हैं वैसा हर एक समझेगा, यह निश्चयके साथ नहीं कहा जा सकता। पर आदमीकी आँख फ़ोटोग्राफ़रके कैमरेसे नितान्त भिन्न एक दूसरे प्रकारका कैमरा ही तो है। वह 'वस्तु' और 'वस्तुकी फ़ोटो'का अन्तर देख लेती है, इसलिए यथार्थको पहचाननेके लिए आदमीकी आँख एक ज़्यादा विश्वसनीय कैमरा है। यही कारण है कि 'फ़ोटो' वस्तुका अपेक्षाकृत काल्पनिक स्वरूप होती है, क्योंकि कैमरा, वस्तुको, वस्तुके यथार्थसे या तो कम या अधिक बनाकर पेश करता है। फ़ोटोग्राफ़ीकी कला एक तरहकी 'कल्पित वास्तविकता'को रचनेवाली कला है। फ़ोटोमें वस्तु अपने वास्तविक स्वरूपसे कहीं अधिक भिन्न, काल्पनिक, सुन्दर या विकृत हो जाती है, हो सकती है। आदमीकी आँख यथार्थको कैमरेकी अपेक्षा ज़्यादा अच्छा देख सकती है। इसलिए, फ़ोटोग्राफ़िक कलाको परम्परानुसार यथार्थवादी कला न कहकर, कल्पनावादी कला मानना चाहिए। मनुष्यकी दृष्टिका कैमरा यथार्थको ज़्यादा अच्छे ढंगसे समेटता है: इसलिए, विविध मानवीय कलाएँ कैमरेकी यन्त्रगत कलासे कहीं अधिक यथार्थवादी हो सकती हैं, गोकि समझा यह जाता है कि कैमरा नामक यन्त्र यथार्थके अंकनका सबसे अधिक प्रामाणिक माध्यम अथवा साधन है।

९ फ़रवरी १९५६

१७

गद्यका यथार्थ

अपने विशुद्ध रूपमें गद्य वर्णनात्मक है, भावात्मक अथवा विचारात्मक नहीं। साहित्यिक अभिव्यक्तिके माध्यमके रूपमें यही उसकी विशिष्टता है, जिसके कारण वह कविता (पद्य !), दर्शन अथवा ह्यूमैनिटीज़से भिन्न है।

इस वर्णनात्मकताकी कोई सुनिश्चित शैली निर्धारित करना तो कठिन है, पर उसका एक मूलभूत व्यक्तित्व ज़रूर है जिसे, संक्षेपमें, 'निस्संग अनु-

भवको व्यक्त करना' या 'देखे हुएको बताना' कहा जा सकता है।

पर, देखना एक बात है और जो देखा है उसे कहना बिलकुल दूसरी। भले ही लेखकसे यह माँग की जाये कि वह जो देखता है, उसे लिखे भी; लेकिन ऐसी हर माँगको पूरा कर पाना लेखकके लिए सम्भव नहीं हो पाता। देखे हुए को लिख डालना बड़े धैर्य और साहसका काम है। साथ ही वह बहुत कठिन है और उसके लिए बड़े कौशलकी ज़रूरत होती है। 'देखनेके क्षण' में और 'लिखनेके क्षण'में यदि तनिक भी अन्तर पड़ जाये, (ज़रूरी नहीं कि वह अन्तर केवल समयका ही हो) तो लेखक अपने बचावका रास्ता खोज निकालेगा और वर्ण्य विषयको इस ढंगसे रखनेका उपाय सोच लेगा जिसमें वह ख़ुद भी मौजूद हो।

इसीलिए, यदि 'बताना' है, अर्थात् निर्वैयक्तिक आँख और मनसे देखे हुए को—वास्तविक और घटितको—शब्दोंमें समेटना है, तो उसे तत्क्षण लिखना चाहिए। तत्क्षण लिखा हुआ अधिक सच्चा होगा, अधिक यथार्थ होगा और लेखकके अपने निजी बहलावे-झुठलावे, रंग-रोग़न, दर्शन-दृष्टिकोणसे अछूता रहेगा। उसमें अमिश्रित सत्य होगा, जिसे सामान्यतः तथ्य कहते हैं। वह रंजित, व्याख्यायित, अथवा दर्शन-आधारित सचाईसे दूर होनेके कारण अधिक प्रामाणिक हो सकेगा। यह 'प्रामाणिकता' ही अन्ततः यथार्थकी सब से बड़ी कसौटी है। रियैलिटी 'रिकलेक्टेड इन ट्रैंक्विलिटी' इज़ नो रियैलिटी।

गद्य अपने मूल रूपमें यदि वर्णनात्मक और निर्वैयक्तिक है, और साथ ही अभिव्यक्तिका सहज-यथार्थवादी माध्यम है, तो उसकी रचना-शैली 'स्पर ऑव द मोमेण्ट' या 'स्पर ऑव द मूड'के अधिकाधिक निकट होनी चाहिए।

१६ नवम्बर १९५६